सुमित्रानन्दन पन्त

●

[परिवर्द्धित एवं संशोधित सप्तम संस्करण]

●

लेखक

डा० नगेन्द्र एम० ए०, डी० लिट्०

●

प्रकाशक

साहित्य-रत्न-भण्डार, आगरा।

दो शब्द

इस पुस्तक में सङ्कलित विषयों के कुछ अंशों को मैं श्री नगेन्द्रजी के मुख से सुन चुका हूँ। उन्होंने पर्याप्त अध्ययन एवं मनग के पश्चात् अत्यन्त सहृदयता के साथ मेरी रचनाओं के गुण-दोषों का विवेचन किया है! अपने प्रयास में उन्हें कहाँ तक सफलता मिलती है इसका निर्णय पाठक ही कर सकते हैं। मुझे इतना ही कहना है कि उन्होंने मेरे साथ काफी सहानुभूति रखी है। उनके दृष्टिकोण से अपनी रचनाओं के गुण-दोषों को परखने का अवसर पाकर मुझे आनन्द मिला और अपनी कमजोरिओं को समझने में सहायता मिली, जिसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। श्री नगेन्द्रजी स्वयं भी कवि हैं। अपने कवि-हृदय के माधुर्य से मेरे काव्य को और भी सुन्दर बना कर पाठकों के सामने प्रस्तुत कर सके हैं, इसमें मुझे सन्देह नहीं।

—सुमित्रानन्दन पन्त

विषय-सूची

उत्तरार्द्ध

सुमित्रानन्दन पन्त

छायावाद

कवि-श्री महादेवी वर्मा के सारगर्भित शब्दों में 'मनुष्य में जड़ और चेतन एक प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध रहते हैं। उसका बाह्याकार पार्थिव और सीमित संसार का भाग है और अन्त-स्तल अपार्थिव और असीम का।' अनुभव का साधन इन्द्रियाँ ही होने के कारण स्वभावतः वह पार्थिव एवं स्थूल की ओर सरलता से आकर्षित हो जाता है। ऐसा अज्ञात रूप से प्रकृति के अनुरोध मात्र से ही होता रहता है और शनैः शनैः जब यह स्थूलोपासना एक निर्दिष्ट सीमा तक पहुँच जाती है तो मनुष्य का चिरप्रसुप्त चेतन एक साथ एक ठेस खाकर विद्रोह कर उठता है। यह विद्रोह सर्वकालीन एवं सार्वदेशिक है। भारत के भिन्न-भिन्न युगों एवं संसार के सभी देशों का साहित्यिक इतिहास इसका साक्षी है। अनादिकाल में—उस धुँधले समय में एक बार जब स्थूल-कर्मकाण्ड ने देश को अभिभूत कर लिया था सूक्ष्म आत्मज्ञान का विद्रोह 'तदेजति तन्नैजति' के रूप में प्रस्फुटित हुआ था। इसके उपरान्त फिर एक बार शाक्त और शैवों की भौतिकता का प्रभुत्व असह्य होजाने पर भगवान बुद्ध के ज्ञान-मिश्रित वैराग्य द्वारा सूक्ष्म ने क्रान्ति उपस्थित की। धीरे-धीरे जब यही ज्ञान और वैराग्य स्थूल और पार्थिव रूप धारण करते गये तो कबीर के आत्म-तेज ने वाह्य आवरण को भस्मसात् करके उसके द्वारा आच्छादित सूक्ष्म स्पन्दन का अनुभव कराया। और अन्त में जब द्विवेदी-युग में कविता उपयोगितावाद और भौतिकता की तुष्टि का एक मात्र माध्यम

बनकर केवल सुधार-उपकरण ही रह गई तो भावुकता ने पुनः एक नये रूप से विद्रोह खड़ा किया। यूरोप में भी समय-समय पर ऐसे काण्ड उपस्थित होते रहे हैं जिनमें सबसे मुख्य १६ वीं शताब्दी की जाग्रति थी जिसके प्रवर्तक थे रूसो और वाल्टेयर। संक्षेप में जब-जब स्थूल की प्रभुता असह्य होती गई है, तभी सूक्ष्म ने उसके विरुद्ध क्रान्ति की है। इस क्रान्ति और इस विद्रोह के प्रोल्लास रूप से जो गान संसार की आत्मा ने उन्मत्त होकर गाये, वे ही छायावाद की कविता के प्राण हैं। सारांश यह है कि स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह ही छायावाद का आधार है। स्थूल शब्द बड़ा व्यापक है, इसकी परिधि में सभी प्रकार के बाह्य रूप रङ्ग रूढ़ि आदि सन्निहित हैं। और इनके प्रति विद्रोह का अर्थ है उपयोगितावाद के प्रति भावुकता का विद्रोह, नैतिक रूढ़ियों के प्रति मानसिक स्वातन्त्र्य का विद्रोह और काव्य के बन्धनों के प्रति स्वच्छन्द कल्पना और टकनीक का विद्रोह।

इस प्रकार स्वातन्त्र्य, भावयोग, अनेक-रूपता, कल्पना और विद्रोह इन सभी तत्वों ने मिल कर द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता के विरुद्ध काव्य-क्षेत्र में एक नव जागृति उपस्थित की, जिसको कि विद्वानों ने (कदाचित उपहास करने के लिए) 'छायावाद' का नाम दिया। उनका उद्देश्य इस नामकरण में चाहे जो कुछ रहा हो परन्तु महादेवीजी के शब्दों में स्वच्छन्द छन्द में चित्रित इन मानव अनुभूतियों का नाम छायावाद बहुत ही उपयुक्त हुआ। कविवर पन्त ने छाया को 'अविदित भावाकुल भाषा सी' इसी अर्थ में कहा है।

आजकल अधिकतर मनीषी समालोचकों की यह प्रवृत्ति हो रही है कि वे पहले तो इस स्थूल को धार्मिक रहस्यवादी सम्प्रदाय से एक रूप कर देते हैं और फिर आधुनिक कवियों की जीवनचर्य्या का उक्त काव्यगत धार्मिकता से सामञ्जस्य न पाकर एक उलझन में पड़ जाते हैं। यदि सहृदय हुए तो इस सामञ्जस्य पर कुछ क्षोभ प्रकट करके ही शान्त हो जाते हैं, अन्यथा वे उन कवियों की सभी भावनाओं को भाषा और अलङ्कारों को झूठा घोषित करके ही रुकते हैं। यदि वास्तव में देखा जाय तो आधुनिक छायावाद का रहस्यवाद एक अङ्ग तो है, पर्याय नहीं। इसके अन्तर्गत और भी बहुत सी विचार धाराएँ काम

मधुर-मन्थर मृदु मौन !
ग्रीव तिर्यक चम्पक-द्युति गात
नयन मुकुलित नत मुख जलजात
देह छवि छाया में दिन रात
कहाँ रहती तुम कौन ?

मानव जगत के प्रति भावना

इससे पूर्व हमारे कवि या तो अवतारों को या ऐश्वर्यशाली अधिपतियों को काव्य का आलम्बन मानते रहे। इसका कारण उनकी भक्ति-भावना और पुरस्कार-लोभ के अतिरिक्त एक प्राचीन परम्परा भी थी, जो सदा से कविता का क्षेत्र राजमहल अथवा पुराण-कथाओं तक ही परिसीमित करती आई थी। यह नव-जाग्रति पश्चिम से आई थी—अतः इसमें वहाँ के साम्यवादी विचारों का पूर्ण प्रभाव था और हमारे कविगण काञ्चन में ही कवित्व टटोलते रहने के स्थान पर अब निर्धन कुटी-द्वारों की ओर आकर्षित होने लगे। कवि-वर सियारामशरण के ग्रंथ आर्द्रा, दूर्वादल, विषाद आदि इसके उदा-हरण हैं। मानव का सबसे बड़ा गौरव उसका मानवत्व है—भाग्य-पीड़ित मूक-जनता की आहों में अब हमारे सहृदय कवि भारती के भव्य-गान सुनने लगे। कविवर 'निराला' का 'पछताता पथ पर आता हुआ' भिखारी उनकी समवेदना का मापक है। कामिनी का सौन्दर्य एक विशेष रङ्ग में रङ्ग गया और शिशुओं के भोले आनन में एक अपूर्व रहस्य और शोभा का दर्शन होने लगा—

ओस-बिन्दु की सुषमा लेकर
फूलों की भोली मुसकान।
देकर उडु-रहस्य का मृदु-रङ्ग
तुम्हें बनाया है द्युतिमान।
वत्स! तुम्हारे चकित नयन में
किस अतीत की याद विचित्र,
जाग्रति-मूर्छा के परदे में,
दिखा रही यह धुँधले चित्र!

पुरातन के प्रति प्रत्यावर्तन

इन छायावादी कवियों ने यद्यपि अपने निकट पूर्ववर्ती काल की प्रवृत्तियों के विरुद्ध क्रान्ति उपस्थित की है, परन्तु फिर भी दूरवर्ती धुंधले रहस्यपूर्ण पुरातन के प्रति इनमें बड़ी श्रद्धा और सम्मान की भावना है। इसका कारण वर्तमान के प्रति असन्तोष ही है। रहस्य भावना की दृष्टि से भी वह बड़े महत्व के है। अतः विस्मृति के गहन गर्त में पड़ा हुआ हमारा जादू का अतीत इन कवियों की आश्रय भूमि बन गया है। वर्तमान के संघर्ष से व्यथित होकर प्रायः ये उसी अतीन्द्रिय लोक में विचरण किया करते हैं और अपनी प्रतिभा की सर्चलाइट फेंक कर उस अन्धकार-गर्भ से विचित्र काव्य-उपादान ढूंढ निकालते हैं। वास्तव में हमारा गौरवपूर्ण अतीत इन भावुक कलाकारों के लिए काव्य-सामग्री का एक अक्षय-भाण्डार है जिसमें प्रवेश करके वे यथेष्ट रूप से मोती पाते रहते हैं। इस युग के सार्वभौम कलाकार 'प्रसाद' जी की कल्पना का तो वह चिरपरिचित-क्रीड़ा क्षेत्र सा होगया है। पुरातन काल की अद्भुत एवं रहस्य पूर्ण विचित्रताऐं इन कवियों के अद्भुत प्रेम को परितृप्त करने में बहुत सफल रहीं। पन्तजी उसी पूर्ण पुरातन के लिए व्याकुल होकर कह उठते हैं—

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल !
भूतियों का दिगन्त-छवि जाल
ज्योति-चुम्बित जगती का भाल ?

आत्माभिव्यञ्जन (व्यक्तित्व)

रीतिकाल के कवियों में आचार्य शुक्लजी के शब्दों में एक बड़ा दोष यह था कि रूढ़ियों के गोरखधन्धे में जकड़कर उनका व्यक्तित्व पूर्णतया लुप्त होगया था। व्यक्तित्व की छाप थोड़े से ही कवियों में कुछ भले ही मिले, परन्तु अधिकतर रीतिकाल का साहित्य अकर्तृत्व और निर्लेपता से पूर्णतया अभिव्याप्त है। परम्परा का पालन करते रहने से कवियों के व्यक्तिगत भावों और आदर्शों को बाहर निकलने के लिए कोई स्थान नहीं था। उनकी भावनाएँ बाह्यालङ्कार से दबकर वहीं शांत हो जाती थीं। छायावाद का मूल ही उपयोगितावाद के

विरुद्ध भावुकता का विद्रोह था, अतः सब से पूर्व इन कवियों ने जिस प्रवृत्ति को प्रधानता दी, वह थी उन्मुक्त आत्माभिव्यञ्जना ! परम्परा के पाश में चिरकाल से बद्ध भावुकता एक साथ छटपटाकर अभिव्यक्त होने लगी और हृदय के समस्त आवेशों का, आत्मा के सम्पूर्ण स्पन्दनों का कवि की कृतियों में एक विशेष स्थान होने लगा। अब उसकी कल्पना स्वच्छन्द है। निर्मुक्त है। रूढ़ियों की क्षीण डोरी उसे बाँध रखने में असमर्थ है। कवि के अपने व्यक्तिगत-राग-विराग काव्य में बहुमूल्य समझे जाते हैं। और किसी प्रकार का अनावश्यक सङ्कोच अथवा संयम प्रतिभा के लिए स्वास्थ्य-प्रद नहीं समझा जाता। श्रीमती वर्मा में यह आत्माभिव्यञ्जन बहुत पाया जाता है—यद्यपि उनका अपना पन जीवात्मा का प्रतिनिधि है, परन्तु फिर भी उनमें उनका निजी व्यक्तित्व कम नहीं। उनके 'सान्ध्यगीत', 'नीरजा' और 'नीहार' तीनों में इसका प्राधान्य है। श्री भगवतीचरण वर्मा एवं बच्चनजी की आवेश-प्रधान कृतियाँ भी इस अहंभाव से मुखरित हैं।

बच्चनजी के 'कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा' —'कवि की निराशा' आदि गीत इसके प्रबल उदाहरण हैं। 'वृद्ध जग को क्यों अखरती है भला मेरी जवानी' में बच्चनजी ने कितना व्यक्तिगत प्रहार किया है। भगवतीचरण वर्मा भी 'मेरी आग' में कहते हैं—

जल उठ जल अरी धधक उठ, महानाश-सी मेरी आग।

नीति विद्रोह

जैसा कि पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है कि छायावाद का जन्म ही विद्रोह में है—यह विद्रोह भावनाओं और विचारों में भी है और शैली एवं कला में भी। विचारों के क्षेत्र में सबसे पहिले मानसिक स्वातन्त्र्य का नैतिक बन्धनों के प्रति विरोध हुआ और इस युग के कुछ स्वच्छन्द कवियों ने नीति एवं धर्म की बेड़ियाँ तोड़ने का प्रयत्न भी किया। 'नवीन' जी एक साथ कह उठे—

यों भूलकर हिये लगाना है क्या कोई पाप ?
ललचाते अधरों का चुम्बन क्यों है पाप कलाप !

इसी प्रकार भगवतीचरण वर्मा ने भी 'तारा' में धर्म की अपने

ढंग से व्याख्या की है। इधर बच्चनजी का फारसी रंग में रँगा हुआ हालाबाद भी इसी भावना का प्रतिफलन है—उन्होंने भी अपनी मधु-शाला को मन्दिर और मसजिद से ऊँचा स्थान दिया है। यही विद्रोह असफल होकर जब निराश हो जाता है, तो इसका रूप बड़ा भयंकर और विकराल हो जाता है और चारों ओर से ठुकराये हुए कवि की आत्मा प्रलय के गान गाने लगती है—'जल उठ जल उठ अरी, धधक उठ महानाश-सी मेरी आग !' संसार में एक ज्वालामुखी फूट निक-लता है—पर निराश्रित कवि गाता ही जाता है—

एक बार बस और नाच तू श्यामा !

करुणा की धारा—दुःखवाद

इस युग में नवीन जाग्रति के कारण उत्साह, स्फूर्त्ति और उमंग तो काफी आई, परन्तु बार-बार विफलता ने आकर रस में विष घोल दिया—क्रान्ति असफल होकर अपने प्रति विद्रोह कर उठी और करुणा का एक अन्तर्प्रवाह भी उसके साथ बह निकला। मर्दित अभि-लाषाएँ बन्दिनी होकर एक साथ चीत्कार कर उठीं—यही कारण है कि छायावाद की कविता में करुणा पूर्णरूप से व्याप्त है और दुःखवाद एक नया 'वाद' ही हो गया है। वास्तव में देश जिस वातावरण में श्वास-प्रश्वास ले रहा है, वही निराशा और अन्धकार से परिपूर्ण है। विद्रोह और आवेश एक विशाल शिलाखण्ड से टकराकर फिर लौट जाते हैं और अपने ही हृदय के अन्दर पुनः मन्थन कर निकलते हैं। इसी कारण दुःख के चिर-अभ्यासी कवियों के हृदय में उसके प्रति एक विशेष मोह हो गया है। और वे अपने इष्ट को भी पीड़ामय देखना चाहते हैं—'तुमको पीड़ा में ढूँढा तुम में ढूँढूँगी पीड़ा !' अब सदैव ही आँसू के सागर भरते रहना उन कवियों को प्रिय है—

रहने दो प्यासी आँखें
भरती आँसू के सागर !

रहस्यवाद

जैसा कि मैं पहिले ही निवेदन कर चुका हूँ, छायावाद में रहस्य-प्रवृति का प्राधान्य है। एक प्रकार से अद्भुत और रहस्य उसके

आधार-भूत तत्त्व हैं। इसका कारण है भौतिकता के विरुद्ध प्रतिक्रिया। द्विवेदी-कालीन कवियों की क्रीड़ा-भूमि उनका निकटवर्त्ती पार्थिव संसार रह गया था, अतः स्वभावतः ही उनका विरोध करने वाले कवि दूर, धुँधले एवं रहस्यमय लोक की ओर बढ़ने लगे। इसके लिए उन्हें कवीन्द्र रवीन्द्र की गीताञ्जलि, अँगरेजी के भावयोगी कवि तथा हिन्दी के प्राचीन रहस्य-वादियों से विशेष प्रोत्साहन मिला और वे उस अज्ञात के प्रति जिज्ञासा प्रकट करने लगे। वास्तव में यह प्रतिक्रिया का ही फल था और हमारे भावुक कवि किसी धार्मिक प्रेरणा से इस ओर इतने आकृष्ट नहीं हुए थे जितने कि अपनी भावुकता और कल्पना के व्यायाम के लिए विस्तृत क्षेत्र पा जाने के कारण। इसी कारण आधुनिक छायावाद को विशेष आध्यात्मिक दृष्टि से देखना उचित न होगा। क्योंकि एक तो यह युग ही धार्मिकता का नहीं है, दूसरे हमारे प्रतिनिधि कवियों का जीवन भी अधिकांश में पाश्चात्य प्रभावों से निर्मित है। केवल काव्य-वस्तु के रूप में उन्होंने इस काव्य जिज्ञासा और उससे सम्बन्ध रखने वाले भिन्न-भिन्न प्रश्नों को अपनाया है। हाँ, अपनी विकसित चिन्तन शक्ति और विस्तृत दार्शनिक अध्ययन के द्वारा उसको पचाने का सफल प्रयत्न अवश्य किया है। श्रीमती वर्मा ने बौद्ध-दर्शन, एवं कविवर प्रसादजी व निरालाजी ने भारतीय अद्वैतवाद का अच्छा मनन किया है। फलतः उनके काव्यों में भावुकता और दार्शनिकता का सुन्दर समन्वय है। कविवर पन्त ने भी पौर्वात्य और पाश्चात्य दर्शन के अध्ययन द्वारा कुछ मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि और उनका सुन्दर काव्यमय प्रयोग किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे कवियों का रहस्यवाद उनकी धार्मिक आत्मानुभूति का फल तो किसी प्रकार नहीं हो सकता। रहस्य प्रवृत्ति के कारण उनकी वृत्ति इसमें काफी रमी और अपनी कल्पना एवं चिन्तन-शक्ति के बल पर उन्होंने इन रहस्यमय प्रश्नों पर काव्य का सुनहरा आवरण बड़े सुचारु रूप से चढ़ाया। कुछ कवियों की कृतियाँ इसका अपवाद भी हैं जैसे कविवर मैथिलीशरण की 'झंकार'—उसमें धार्मिकता न देखना कवि के व्यक्तित्व के प्रति अन्याय होगा। एक बात अवश्य है कि झङ्कार का कवि भक्ति-पथ का पथिक होने के कारण रहस्यवादी रचनाएँ करने में बहुत अधिक सफल नहीं हो सका।

शैली-कला

भावों और विचारों मे तो परिवर्तन हुआ ही, शैली और कला में उससे भी अधिक क्रान्ति उपस्थित हुई। अब तक के कवि पुरानी रीति-ग्रस्त भाषा से ही सन्तुष्ट थे। यदि कोई नवीनता प्रिय कवि हुआ तो दो-चार उर्दू के शब्द उसमें मिला देता था। हमारे इन कवियों ने अँग्रेजी और बङ्गला की काव्य शालाओं में काफी शिक्षा प्राप्त करली थी। अतः इनका उसकी लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता के प्रति आकर्षित हो जाना स्वाभाविक ही था। बस प्राचीन रूढ़ि ग्रसित भाषा को प्राणमय बनाने का प्रयत्न तो हुआ ही, साथ ही उसकी लाक्षणिक शक्तियाँ भी विकसित की जाने लगीं और उसके शब्दों की व्यञ्जनाशक्ति (Suggestiveness) का पूर्ण विवेचन होने लगा। अँगरेजी के बहुत-से अलङ्कार जैसे विशेषण विपर्यय, ध्वनि चित्रण, मानवीकरण आदि ज्यों के त्यों अपना लिये गये और भाषा की चित्रमयता बहुत बढ़ गई। प्राचीन भारतीय अलङ्कार शास्त्र की भी अवहेलना नहीं की गई। हाँ, अलङ्कारों को वाच्य रूप में न लेकर लक्षण की सहायता से ग्रहण किया गया। कल्पना और वक्रता के मोह के कारण दृष्टान्त आदि के स्थान पर अन्योक्ति एवं समासोक्ति ही अधिक प्रिय हुई। अमूर्त भावनाओं को मूर्तरूप देने के लिए मानवीकरण अलङ्कार का प्रयोग होने लगा। साथ ही कुछ स्वच्छन्द कवियों ने व्याकरण की कड़ियाँ भी तोड़नी चाहीं जिसमें उनको अधिक सफलता प्राप्त न हो सकी। साध्यवसान लक्षण ने चित्रमय विशेषणों की माँग पूरी की। ये सभी बातें एक प्रकार से नवीन हैं और यद्यपि हमारे अलङ्कार शास्त्र में इन सब का बीज अन्तर्हित था किन्तु न तो प्रयोक्ता कवियों ने कुछ समय तक इस ओर कुछ ध्यान दिया और न प्राचीनता के पक्षपाती समालोचकों ने ही इस ओर ध्यान देना उचित समझा। इस प्रकार दोनों ओर से ज्यादती होने के कारण बेचारे छायावादी अब तक एक विचित्र प्रकार के जन्तु ही बने रहे। न वे इनसे मिलना चाहते थे और न ये उन्हें मिलाना। सन्तोष की बात है कि अब यह अजनबीपन धीरे-धीरे मिटता जा रहा है।

दूसरा प्रश्न था छन्दों का। बहुत से हमारे कवि सवैया और कवित्तो के छन्दो में ही अपने को व्यक्त करते आ रहे थे। कल्पना इनमें अवकाश न पाती थी। छन्दों का बन्धन इतना दृढ़ हो गया था कि कवि-प्रतिभा सर्वथा उसी की बन्दिनी हो गई थी। इस युग में कवियों की उत्तेजित कल्पना और भावुकता नवीन छन्दों का आग्रह करने लगी, अतः पुराने छन्दों की मर्यादित बेड़ियाँ काटी गईं और स्वतन्त्र रूप से विदेशी प्रभाव की प्रेरणा से हमारे मननशील कवियो ने नवीन उद्भावनाएँ भी कीं। छायावाद के दो प्रतिनिधि कवियों (पन्त तथा निराला) ने इस पर अपने स्वतन्त्र और बहुमूल्य विचार भी प्रकट किये हैं। पन्तजी ने हिन्दी के कोमल छन्दों को चुनकर संगीत और गति का पूर्ण ध्यान रखते हुये भावानुकूल परिवर्तन करके इस कला को विकसित किया—इधर निरालाजी ने लय और ताल के आधार पर 'स्वछन्द छन्द' की सृष्टि की जिसकी नाटकीय उपयोगिता वास्तव में श्लाघ्य है। श्रीमती वर्मा ने पुराने ग्राम-गीतों (Folk songs) में नवीन कलात्मक प्राण फूँक कर उन्हें एक अपूर्व सौन्दर्य प्रदान किया है। इस प्रकार इस युग में छायावादी कवियों ने जो कला का स्वतन्त्र रूप से विकास किया है वह अनुपम है। कलाकार की दृष्टि से हमारे ये कवि सम्पूर्ण हिन्दी-साहित्य में एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं।

क्रान्ति शब्द में ही कुछ अप्रियता भरी हुई है। अतः श्रेयस्कर होने पर भी संसार उसे कुछ काल तक नहीं अपनाया करता। यह प्रकृति का स्वाभाविक आग्रह है। हमारे इन नवीन कवियों को जो आघात सहने पड़े हैं वे इसी नियम के अनुसार। किन्तु आज से दस-पन्द्रह वर्ष पूर्व जो स्वछन्द गान इन निराले कवियों ने अपने निर्मुक्त कण्ठ से गाए, उनमें अजीब जादू था—उनका संक्रामक प्रभाव आज प्रत्यक्ष है। हिन्दी के दिग्गज प्राचीनता के पुजारी कवि भी उस प्रभाव में स्थिर न रह सके। जादू वही है जो सर पर चढ़ कर बोले।

चित्ररेखा

सिपाही विद्रोह की विफलता ने क्रान्ति और करुणा को एक-रस कर दिया। विवशता के अन्तर विद्रोह और विद्रोह के अन्तर में आश्रयहीन विवशता थी। साहित्य देश का मुखरित हृदय होता है। अब तक यहाँ के कवि कविता-कामिनी के चीर-हरण में ही व्यस्त थे, किन्तु फिर भी वे कहाँ तक इस शङ्खनाद को न सुनते। फलतः 'परम-प्रेमनिधि, रसिक, वर अति उदार गुन खान' हरिचन्द ने अपनी विलास-बाँसुरी में भारत का करुण-क्रन्दन फूँक ही तो दिया। परन्तु वे थे तो रसिक ही। इससे पूर्व कि माँ की दारुण दशा उन्हें रसस्विनी से खींचकर रक्तस्विनी तक लावे, वे इस संसार को छोड़कर चल बसे। हाँ विद्रोह का सच्चा स्वरूप इस समय एक शक्ति में अवतरित हुआ—उसने समस्त देशव्यापी अग्नि के कणों को एकत्रित एक विशाल अग्नि-व्यूह से प्रस्तुत किया जिसमें एक ओर तो अपनी रूढ़िगत धार्मिक दुर्बलताओं को भस्म किया गया और दूसरी ओर भविष्य के लिये सोना तपाया गया। परन्तु इस शक्ति का ताण्डव केवल कर्मक्षेत्र में ही हुआ—अप्रत्यक्ष रूप में साहित्य पर भी उसका चाहे जो कुछ प्रभाव पड़ा हो। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने विद्रोह के दो क्रिया-त्मक विभाग कर दिये—एक आत्म-विद्रोह, दूसरा पर-विद्रोह। आत्म-विद्रोह ने सुधार का रूप धारण किया और पर-विद्रोह ने सत्याग्रह संग्राम का। इस समय भी कवि कहलाने वालों की संख्या कम नहीं थी। इन द्विवेदी कालीन साहित्य-महारथियों को न तो कला की ओर दृष्टिपात करने का समय था और न वह वातावरण ही इसके उपयुक्त था। वे तो अपनी शक्ति भर 'कला जीवन के लिए है' (Art for Art's Sake) सिद्धान्त का प्रतिपादन और कविता का जीर्णोद्धार करते रहे।

हाँ, इस समय एक युवक हृदय सच्ची भावुकता के संस्कार से अवश्य निखर पड़ा और उसकी भारती ने देश को कुछ समय के लिए

गुञ्जरित कर दिया। किन्तु इस शुष्क समय में—(Barren age) कला का अस्तित्व लोप हो जाने के कारण उसमें भी प्लेटफार्म काव्य का आधिक्य था। अवध के अन्तिम अधिपतियों की भाँति अब भी कुछ कवि महोदय अपनी समस्त भावनाओं को अन्तर्मुखी करके "योग से भी अधिक कठिन परनारी संयोग" में तल्लीन थे।

इस व्यापक आवर्त्तन-प्रवर्त्तन को दो भावुक युवक चुपचाप देख रहे थे—एक बङ्ग देश के क्रान्तिमय शस्य श्यामल वातावरण में उच्छृङ्खल गति से घूमता हुआ कभी-कभी अबाध स्वर में चीत्कार कर उठता था 'जागो फिर एक बार'—दूसरा कुछ सङ्कोचशील प्रकृति का था; वह कूर्मांचल के हरिताभ अञ्चल में मुँह छिपाये अपने उमड़ते हुए हृदय को संयत करके कोमल स्वर में कभी-कभी गुनगुनाया करता था—

करुण-क्रन्दन करने दो।
अविरल-स्नेह-अश्रु-जल से मा।
मुझको मलमल धोने दो।

यद्यपि इससे पूर्व इस ओर सफल संकेत कविवर प्रसादजी ने कर दिया था, परन्तु उसी समय उनकी प्रतिभा के दूसरी ओर प्रवृत्त हो जाने के कारण, उनके लिए यही कह देना सङ्गत होगा कि 'बलि बोई कीरति-लता कर्ण कीन द्वै पात।' इसके अनन्तर समय पाकर दोनों ही आगे बढ़े—एक ने स्वच्छन्द होकर मुक्त छन्द मे अपने विद्रोही गीत गाए—दूसरे ने सङ्घर्ष से दूर हटकर वर्त्तमान के रङ्ग लेकर भविष्य का एक छायाचित्र खींचा और उसी के अनुसार अपनी स्वर-साधना की।

तो यह दूसरे कविकुमार हमारे पन्तजी ही हैं। प्रकृति के अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग सौन्दर्य से ही इनके स्वभाव का निर्माण हुआ है। इसी कारण—

सरलपन ही है इनका मन
निरालापन है आभूषन।

कवि ने अपनी कला के सदृश ही अपने व्यक्तित्व के निर्माण का भी सफल प्रयत्न किया है। गौर वर्ण मांसल-सा शरीर घुँघराले

रेशमी बाल और गम्भीर-संयत आकृत वाला यह नवयुवक कवि एक विशेष कवित्व पूर्ण व्यक्तित्व रखता है जिसका प्रभाव देखने वाले पर अनिर्वच और स्थायी होता है। पन्तजी स्वभाव से ही सङ्कोचशील और मितभाषी हैं। उनकी आँखों में एक स्निग्ध स्वच्छता है जो उनकी मननशील निर्मल आत्मा का परिचय देती है। पं० शान्तिप्रिय द्विवेदी के शब्दों में पन्त का व्यक्तित्व पूर्ण संस्कृत तथा शालीन है। सङ्गीतमय सुमधुर स्वर निर्विकार दृष्टि-निक्षेप, सौजन्य विनम्र और निश्छल वार्तालाप चिर मोह के प्रबल बन्धन हैं। दो श्रेष्ठ गुण पूर्ण मनुष्यत्व के हैं—आत्मविश्वास और निरभिमानता। साथ ही वे दूसरों के स्वाभिमान का सम्मान करते हैं। यही नहीं उनकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि में व्यक्तियों के अन्तस्तल तक पहुँचने की बड़ी सुन्दर क्षमता है।

पन्तजी की जन्म-भूमि कौसानी ने ही उन्हें कवि बनाया है—यह कहना तो उचित न होगा। हाँ इसमें कोई सन्देह नहीं कि सौन्दर्य के इस कवि के लिए वही उपयुक्त जन्म-भूमि है—और उसकी रङ्गीन कला पर इस "पल-पल परिवर्तित प्रकृति-वेश" का काफी आभार है। 'ग्रन्थि' के कथा नायक की भाँति पन्तजी को जन्म के उपरान्त तुरन्त ही मातृ-वियोग सहना पड़ा।

> स्थिति ने ही निज कुटिल कर से, सुखद
> गोद मेरे लाड़ की थी छीन ली,
> बाल्य ही में हो गई थी लुप्त हा!
> मातृ अञ्चल की अभय छाया मुझे।

इस घटना से कवि की प्रारम्भिक वीणा-सीरीज वाली कवितायें प्रभावित हैं। उनके शिशु गीता-माता के अभाव में ही उसको बार-बार पुकारते हुये एक विशेष सकरुण स्मृति से अनुप्राणित हैं। पन्तजी का विद्यार्थी-जीवन विशेषता-शून्य है। प्रकृति का यह कवि बन्द दीवारों में पढ़ता ही क्या? उन्होंने तो जो कुछ सीखा पढ़ा है वह स्वयं चिन्तन करके अथवा स्वतन्त्र रूप से संस्कृत, बंगला और अँग्रेजी की काव्य-शालाओं में अध्ययन करके। अतः स्वभावतः ही म० गांधी के भाषण से प्रभावित होकर आपने एफ० ए० से ही विद्यालय छोड़ दिया था।

पन्तजी की अबोध किशोरावस्था बाह्य के रूप-रङ्ग पर ही मुग्ध होती रही, किन्तु उसमें चिन्तन की प्रवृत्ति तभी से वर्तमान थी। आपकी प्रारम्भिक कविताएँ अल्मोड़ा अखबार, सुधाकर तथा मर्यादा आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती थीं—'कागज कुसुम', 'सिगरेट का धुआँ' आदि उनके विषय हुआ करते थे—कहते हैं वे अब उन्होंने नष्ट करदी हैं। यह अनुभवविहीन शान्त-प्रिय बालक सोसाइटी से दूर रह कर चुपचाप लिखता रहता था। १५ वर्ष की अवस्था में ही उसने 'हार' नामक उपन्यास लिख डाला। बाद में पन्तजी की सर्व-प्रथम कविता जिसने काव्य-प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया सरस्वती में प्रकाशित 'स्वप्न' थी जिसको आपने सर्व-प्रथम प्रयाग के "विस्तृत हिन्दू होटल" के एक छोटे से रूम में लिखकर वहीं के कवि-सम्मेलन में सुनाया था। इसके उपरान्त सन् २३ में तो भिन्न-भिन्न पत्रों के पृष्ठों पर वे काव्य-रसिकों को दर्शन देते रहे हैं। कवि की पुस्तकाकार कृति, 'हार' के उपरांत 'ग्रन्थि' है जो १९२५ में प्रकाशित 'पल्लव' से वर्षों बाद जनता के सम्मुख आई थी। 'पल्लव' से चार वर्ष पूर्व 'उच्छ्वास' कविता पुस्तिका आपकी लेखनी से "यज्ञ के कनक-वलय के सदृश्य निकल पड़ी थी"—जिस पर बहुत दिनों तक वाद-विवाद रहा। 'पल्लव' के प्रकाशन के तीन वर्ष उपरान्त कवि पर दैविक दैहिक विपत्तियों का प्रकोप हुआ—माता और पिता दोनों के स्थानापन्न पूज्य पिताजी पं० गङ्गादत्तजी पन्त का स्वर्गवास और साथ ही अपनी करुणावस्था ने उसके जीवन को निराशा से ओत-प्रोत कर दिया। इन्हीं दिनों पन्तजी दर्शन की ओर झुके और जीवन के रहस्यों में प्रवेश करने का प्रयत्न करने लगे। प्रभु की अनुकम्पा से शीघ्र ही स्वास्थ्य-लाभ कर अपने जीवन के प्रति एक नवीन आशा-समन्वित दृष्टिकोण धारण किया जिसका विकास 'गुञ्जन' की कविताओं में खूब हुआ। यही भावना आगे चलकर 'ज्योत्स्ना' और 'पाँच कहानियों' में अधिक स्पष्ट और पुष्ट हो गई, 'युगान्त' में आकर वह प्रारम्भिक करुण क्लिष्ट भाव मानव-जगत की कल्याण कामना से मुखरित हो उठा और आज पन्तजी का दृष्टिकोण समाजवादी है।

जगती के पथ कानन में
तुम गाओ विहग अनादि गान।

चिर-शून्य शिशिर-पीड़ित जग में,
निज अमर स्वरों में भरो प्राण !

पन्तजी चिन्तनशील व्यक्ति हैं—वे अपने बाह्य और अन्तर दोनों के निर्माण में सदैव सचेत रहते हैं। अवस्था के साथ उनका व्यक्तित्व भी प्रौढ़ और शान्त होता जारहा है। वे पौर्वात्य एवं पाश्चात्य दोनों साहित्यों के मर्मज्ञ हैं—दर्शन और अन्य ललित कलाओं में उनकी अच्छी गति है। एक शब्द में कवि मर्यादा और कलात्मक संयम इन दोनों का अपूर्व सम्मिश्रण आपको साहित्यिक-संसार के अनेक व्यक्तियों में नहीं मिलेगा।

पन्त जी का भाव-जगत

पन्तजी सुन्दर के ही कवि हैं—यद्यपि उनका सुन्दर शिवं और सत्यं से शून्य नहीं है। सौन्दर्य—प्राकृतिक, मानसिक और आत्मिक ही इनकी कविता का असली विषय है। उसमें भी जो बात सब से मुख्य प्रतीत होती है, वह है उनकी सुमन-चयन-प्रवृत्ति। कवि की 'याचना' प्रारम्भ से ही यह रही है।

नव-नव सुमनों से चुन चुन कर
धूलि सुरभि मधु-रस हिमकण,
मेरे उर की मृदु कलिका में—
भरदे करदे विकसित मन।

प्रकृति के विराट रंगमञ्च पर इनकी सौन्दर्यमयी दृष्टि-पल्लव, बीचिजाल, मधुप-कुमारी, किरण, चाँदनी, अप्सरा, संध्या, ज्योत्स्ना, छाया, पवन, इन्दु, सुरभि, तारिकायें, आदि पत्रों का ही अभिनय देखती है—अथवा देखना चाहती है। दिगन्तव्यापी उल्कापात, बवण्डर, भूकम्प और बाड़व-मन्थन आदि में इनकी वृत्ति नहीं रमती। मेरे इस कथन को सुनकर 'परिवर्तन' के प्रेमी पाठक कदाचित हँस उठें किन्तु मेरी तुच्छ धारणा यही है कि किसी परिस्थिति विशेष के आवर्त्त में फँस कर पन्तजी विश्व के उस दूसरे किनारे पर जा निकले—यह उनकी प्रतिनिधि कविता नहीं हो सकती। जीवन में, कम-से-कम प्रारम्भिक कवि जीवन में उन्होंने नौका-विहार ही अधिक किया, यह दूसरी बात है कि ज्योत्स्ना-उज्ज्वल, मोतियों को बटोरते हुए कभी कोई वक्र-नक्र भी उन्हें दिखाई पड़ जाय और उससे चौंक कर ये कुछ समय के लिए जीवन एवं काल की कठोरता के ध्यान में मग्न हो जायँ। उनके लिए तो यह कहना ही अधिक उपयुक्त होगा—

नवल कलियों को धीरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम,

मुदित कवि-सी तुम अपनी पाठ
सीखती हो तुम जग में घूम।

परन्तु इस सौन्दर्य के अन्तर में प्रवेश करने की शक्ति पन्तजी में अक्षय है। अल्मोड़े की चित्रित घाटी में पला हुआ यह भावुक कवि प्रकृति के रंगीन स्वरूप में घुलमिल-सा गया है—उसका सूक्ष्म से सूक्ष्म क्रिया-कम्पन इसके हृदय में पुलक और प्राणों में स्पन्दन भर देता है। कोमल-प्रकृति के सूक्ष्म स्पन्दनों की पन्तजी को दिव्य अनुभूति है। जब प्रकृति के लीला क्षेत्र में नव-वसन्त का आगमन होता है तो कवि का हृदय भी एक नवीन राग और उल्लास से भर जाता है—प्रत्येक चित्र उसकी आँखों के द्वार से सीधा आत्मा तक पहुँच जाता है।

लो चित्र-शलभ सी पंख खोल
उड़ने को है चित्रित घाटी
यह है अल्मोड़े का बसन्त,
खिल पड़ी निखिल पर्वत घाटी।

एक ओर यदि वह पुञ्ज-पुञ्ज विहगों को देखकर हर्ष विभोर हो उठता है—

विहग, विहग,
फिर चहक उठे ये पुञ्ज-पुञ्ज
चिर सुभग, सुभग!

तो दूसरी ओर 'छाया' को तरु के नीचे एकाकिनी देखकर उसकी अवस्था पर दयार्द्र हो जाता है—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई
हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या,
अलि, नल-सा निष्ठुर कोई!

एक बार छाया को देखकर पहिले तो कवि के हृदय में अपनी दशा से उसके सामञ्जस्य की भावना जाग्रत हुई, परन्तु शीघ्र ही वैषम्य का भी पता चल गया और सन्तोष का भाव एक प्रकार से असूया-मिश्रित विवशता में परिणत हो गया। देखिये कितनी दीन-वेदना है—

अहा, अभागिन हो तुम मुझ-सी
सजनि! ध्यान में अब आया
तुम इस तरुवर की छाया हो
मैं उनके पद की छाया।
विजन निशा में किन्तु गले तुम
लगती हो फिर—तरुवर के,

× × × ×

और हाय! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निश-दिन बन बन!

प्रभात की प्रथम रश्मि के स्पर्श से विहंगिनी के कण्ठ से गीतियाँ फूट निकलती हैं, कवि एक साथ विस्मित हो जाता है और उससे पूछने लगता है—

प्रथम रश्मि का आना रंगिणि!
तूने कैसे पहिचाना?

कितने भावुक हृदयों ने इस बात का अनुभव न जाने कितनी बार किया होगा, परन्तु भाव को पकड़ कर उसका यथातथ्य चित्रण कर देना कुशल-कलाकार का ही काम है।

यह अनुभूति जब कुछ गहरी हो जाती है तो कवि प्रकृति में एक रहस्यमय आकर्षण का अनुभव करने लगता है और एक करुण विस्मय में विभोर कह उठता है।

क्षुब्ध जल शिखरों को जब बात,
सिन्धु में मथकर फेनाकार
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देता अज्ञात;
उठा तब लहरों से कर मौन
न जाने मुझे बुलाता कौन!

ऐसे उदाहरण पन्तजी की कविता में राशि-राशि मिलेंगे।
प्रकृति को भेंटने के लिए पन्तजी का कवि पागल होकर दौड़ता

है। मधुप-कुमारी के गानों पर मुग्ध हो कवि एक साथ कातर होकर उनकी मनुहारें कर उठता है—

सिखादो ना हे मधुप कुमारि !
मुझे भी अपना मीठा गान—

'ना' शब्द में कितनी कातरता, कितना अनुरोध है !

प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त पन्तजी की शारीरिक-सौन्दर्य सम्बन्धी अनुभूति भी बड़ी तीव्र है। 'नारी कविता' में वे उसके समस्त सौन्दर्य का वर्णन एक शब्द में कर देते हैं—'अकेली सुन्दरता कल्याणि !' कैसा मुग्ध आवेश है ! शारीरिक सौन्दर्य का विलास देखना हो तो ज्योत्स्ना के शयनागार में चलिए— वहाँ आप रूप-विह्वल हो उठेंगे । कवि की भावी-पत्नी का रूप-विभव भी कितना मादक है—उसकी भी ('अनिर्वर्णनीयं परकलत्रं' का विचार थोड़ी देर छोड़कर) देखिए—

अरुण-अधरों का पल्लव-प्रात,
मोतियों का हिलता-हिम हास;
इन्द्रधनुषी-पट से ढँक गात
बाल विद्युत का पावस लास;
हृदय में खिल उठता तत्काल
अधखिले अङ्गों का मधुमास
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये प्राणों की प्राण !

वास्तव में पन्तजी के काव्य-जगत में ऐन्द्रियता (Sensousness) का उचित मान है। परन्तु इस सौन्दर्य-उपासना में एक गुण है जो इन्हें अँग्रेजी कवि कीट्स से इस अंश में ऊँचा उठा देता है—वह है इनका अन्तर्बाह्य दोनों पहलुओं का चुनाव। पन्तजी में आदि से अन्त तक एक प्रकार के प्लेटोनिज्म के दर्शन होते हैं। इनकी अप्सरा भी मानसिक सौन्दर्य के कारण सुन्दर और आकर्षक है। वे अपनी उच्छ्वास की नायिका से यही तो कहते हैं—

तुम्हारे छूने में था प्राण
सङ्ग में पावन गङ्गा-स्नान !
तुम्हारी वाणी में कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरों का गान !

मानसिक-संसार

मानसिक संसार मे भी इनका परिचय अधिकतर स्वप्न, कल्पना, आँसू, उच्छ्वास अनंग आदि से हो है। इसके आँसू और उच्छ्वास भी सुन्दर ही हैं। वास्तव में हृदय की कोमल भावनाओं को, उन उर्मिल प्रवृत्तियों को गुदगुदाना, जो थोड़ी देर उठ-उठ गिर-गिर कर विलीन हो जाती है—पन्तजी की कविता का विशेष गुण है। इस विषय में इनकी सूक्ष्मदर्शिता अपरिमेय है। कल्पना का एक स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि का एक टच एक साथ किन भावों को जाग्रत कर देता है यह पन्तजी पूर्ण रीति से जानते हैं। इनकी संवेदना इतनी तीव्र है कि जहाँ कोई भावना उठी नहीं कि तुरन्त ही उन्होंने उसे अपने कलामय पाश में बाँध लिया। गुञ्जन की अधिकांश कविताएँ ऐसी ही हैं। पल्लव में 'मुस्कान' भी एक साधारण—अत्यन्त क्षणिक भावना का चित्रण है। इस प्रकार:—

आज रहने दो यह गृह-काज
प्राण! रहने दो यह गृह-काज,

में वातास के सौरभश्लथ 'उच्छ्वास' से पुलकित होकर नायक अपनी प्रियतमा से समस्त गृह कार्य बन्द कर देने का आग्रह करता है- "यह गृह-काज तो नित्य ही होता रहता है—आज इस मादक वेला में तो इसे बन्द करो—यह समय गृह-काज करने का नहीं है—न, आज इसे रहने दो"। प्रत्येक नवदम्पति इस भावना की कोमलता से भी परिचित होंगे। 'भावी पत्नी के प्रति' शीर्षक कविता में तो प्रत्येक पंक्ति में इसी प्रकार का एक भाव-रत्न जड़ा हुआ है। इसी प्रकार 'वीणा' की अधिकांश कविताएँ भी गुदगुदा कर अपना प्रभाव डालती हैं। पन्तजी ने बालिका बन कर बहुत से सुन्दर गीत लिखे हैं। उन सभी में 'मा' को ही सम्बोधित किया गया है। जन्म से ही मातृ-हीन पन्तजी की ये कविताएँ विशेष करुण-स्मृति से झंकृत हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

बालिका माँ के स्नेह और अपने खेलों पर इतनी मुग्ध है कि वह सदा छोटी ही बनी रहना चाहती है क्योंकि वह देखती है कि बड़ी हो जाने पर माताएँ अपनी कन्याओं से न तो पहिला-सा लाड़-चाव करती हैं और न उन्हें परियों के गीत ही सुनाती हैं—

मैं सब से छोटी होऊँ!

क्योंकि—

बड़ा बनाकर पहिले हमको, तू पीछे छलती है मात!
हाथ पकड़ फिर सदा हमारे, साथ नहीं फिरती दिन रात!
अपने कर से खिला, धुला, मुख, धूल पोंछ सज्जित कर गात!
थमा खिलौने नहीं सुनाती हमें सुखद परियों की बात!

प्रार्थना कितनी भोली साथ ही अर्थ-गर्भित है। यही भावना कहीं-कहीं अधिक स्पष्ट और दिव्य हो गई है। बहुत सी छोटी कृतियों में पन्तजी अपने अस्तित्व को विश्व में मिला देने के लिए उत्कण्ठित हो उठे हैं। ये कविताएं उनके सरल हृदय का भव्यतम प्रतिविम्ब हैं—अतः एक विशेष महत्त्व रखती है।

इसी प्रसङ्ग में—एक उदाहरण सरल मौध्य का तो देखिये कितना मुग्धकारी है—

वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर

किशोर सारल्य बोल रहा है।

परन्तु मेरे उपर्युक्त विवेचन का अर्थ यह नहीं है कि पन्त जी सर्वत्र गुद्गुदा कर ही रह जाते हैं। देश के अन्तर में प्रवाहित करुणा की धारा से कौन अछूता बचा होगा? और स्थान-स्थान पर उन्होंने अपनी तीक्ष्ण कवि-दृष्टि द्वारा मानव हृदय को कुरेदने में भी प्रवीणता दिखाई है।

कुसुमों के जीवन का पल
हँसते ही जग में देखा।
इन म्लान-मलिन अधरों पर
स्थिर रही न स्मित की रेखा।

इस कथन में मानव जीवन की ईर्ष्यामय विवशता का कितना मर्मस्पर्शी उद्गार है।

करुण है हाय प्रणय!
नहीं दुरता है जहाँ दुराव
करुणतर है वह भय
चाहता है जो सदा बचाव।

अन्तिम दो पंक्तियों में—'सदा बचाव चाहने वाला भय करुण-तर है'—इस उक्ति में—एक अनिर्वचनीय कसक है।

हाँ एक नहीं अनेक स्थानों पर कसक अधिक गहरी हो गई है और कवि का संयम उसको वश में नहीं रख सका— यौवन के आगमन के साथ ही बालिका का चिर-परिचित संसार एक साथ बदल गया। उसका चित्रित बालापन विधाता ने उससे छीन लिया। बेचारी बड़ी दुखी हुई और कर्तार से पुनः उसे पाने की प्रार्थना करने लगी। देखिये उसकी प्रार्थना में आपको एक आवेग (Passion) मिलेगा जो हृदय पर एक साथ प्रभाव डालता है।

इस अभिमानी अञ्चल में फिर चित्रित कर दो विधि अकलङ्क
मेरा छीना बालापन फिर करुण लगा दो मेरे अङ्क।
उसी सरलता की स्याही से सदय इन्हें अङ्कित करदो
मेरे यौवन के प्याले में फिर वह बालापन भर दो।

उक्त पंक्तियों में ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई अभिमानिनी बालिका अपने वृद्ध पितामह से किसी वस्तु के लिए प्रत्यक्ष ही झगड़ रही हो। 'विसर्जन' कविता में भी ऐसा आवेश है—

इस मन्दहास में बहकर,
गालूँ मैं बेसुध प्रियतम।
बस इस पागलपन में ही,
अवसित कर दूँ निज जीवन।
तुम मुझे भुलादो मन से,
मैं इसे भूल जाऊँगी।
पर वञ्चित मुझे न करना,
अपनी सेवा से पावन।

ग्रन्थि, उच्छ्वास और आँसू ये तीन कविताएँ किसी विशेष करुणा-भार से प्रेरित होकर लिखी गई है—उनमें आवेश फूट पड़ा है। युवक कवि के वे उन्मुक्त गान हैं—बन्धन-विहीन और—

उमड़ कर आँखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान

पं० कृष्णशङ्कर के शब्दों में 'वियोगजन्य विकलता' का कवि पर इतना प्रभाव पड़ा है कि वह यह मानने लगता है कि सर्व प्रथम

कविता किसी वियोगी के गान रूप में ही प्रस्फुटित हुई होगी ! यह बात सत्य भी है। क्रौंच-मिथुन के वियोग को देखकर ही कवि के कण्ठ से काव्यधारा उमड़ पड़ी थी। वह कवि स्वयं वियोगी नहीं था पर उसके सुकुमार हृदय में इतनी पर-दुःख कातरता थी कि वह उस पक्षी के दुःख से उतना प्रभावित हुआ। पन्तजी का प्रथम कवि स्वयं वियोगी रहा होगा। इस कल्पना में भी सार्थकता है।

यही करुणा की भावना 'परिवर्तन' में जाकर शत-शत धाराओं मे बही है। विश्व का समस्त उत्ताप मानो पन्त के शब्दों में मुखरित हो उठा हो। वैसे तो उनकी यह समस्त कविता ही हिन्दी साहित्य की मुकट-मणि है—फिर भी कहीं-कहीं भाव-व्यञ्जना बड़ी अद्भुत और तीव्र है। उदाहरणार्थ—

अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हल्दी के हाथ;
खुले भी न थे लाज के बोल;
खिले भी चुम्बन-शून्य कपोल;
हाय रुक गया यहीं संसार
बना सिन्दूर अङ्गार !

एकाध स्थान पर करुणा की व्यञ्जना कुछ अनावृत-सी हो गई है। जो उचित नहीं—

प्रात ही तो कहलाई मात
पयोधर बने उरोज उदार
मधुर उर-इच्छा का अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल-आकार

असंयत ! हाँ उनमें भी अनावश्यक रूप से दार्शनिक विवेचन करने की प्रवृत्ति कुछ-कुछ रस में बाधक होती है और अनुभूति को दबाती है। इन कविताओं में प्रेम का भव्यतम आख्यान है। उसकी व्यञ्जना "सच्ची अनुभूति और उर्वर-कल्पना के सुन्दर सम्मिश्रण से हुई है"—अतः स्वभावतः ही उसमें हृदय में घर करने की क्षमता है। प्रेम की अन्धता की एक व्यञ्जना देखिये—

और भोले प्रेम क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ

झूमते गज-से विचरते हो वहीं
आह है उन्माद है, उत्ताप है।
पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं
बस बिना सोचे हृदय को छीन कर
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में

'ग्रन्थि' में निराश प्रेमी की निराश विवशता देखिये, किस प्रकार अभिव्यक्त हुई है—

शैवलिन ! जाओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल ! आलिङ्गन करो तुम गगन का
चन्द्रिके चूमो तरङ्गों के अधर
+ + +
पर हृदय सब भाँति तू कङ्गाल है।
चल किसी निर्जन विपिन में बैठकर

धीरे-धीरे कवि का यह व्यक्तिगत वियोग संसार को ही वियोग-मय अनुभव करने लगता है और कविता का उद्गम ही वियोग आँसुओं से घोषित कर देता है—

वियोगी होगा पहला कवि,
आह से उपजा होगा गान
छिन गया हाय ! गोद का बाल
गड़ी है बिना बाल की नाल !

यों तो पन्त के काव्य में सभी गिनेगिनाए रसों के एकाध उदाहरण मिल ही जायेंगे। अकेले परिवर्तन में ही करुण, वीर, भयानक, वीभत्स और शान्त आदि रसों का सम्यक् परिपाक मिलता है-तथापि पन्तजी के मुख्य रस-श्रृङ्गार और करुण ही हैं। उनकी भाव-परिधि सीमित ही है। साहित्याचार्य पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में आजकल सम्यक् उद्‌बुद्ध रसों की व्यञ्जना न होकर 'भावों' की ही अभिव्यक्ति होती है। पन्तजी के विषय में भी यह कथन ठीक बैठता है। उनका अनुभूति-क्षेत्र सीमित होने के कारण भयानक एवं

बीभत्स चित्र केवल कल्पना की ही करामात से हैं—फिर भी उनकी सजीवता में कौन सन्देह कर सकता है।

बहा नर शोणित मूसलधार
रुण्ड मुण्डों की कर बौछार
प्रलय घन-सा गिर भीमाकार
गरजता है दिगन्त-संहार

एक रौद्र-चित्र लीजिए—

पटक रवि को बलि-सा पाताल
एक ही वामन पग में—
लपकता है तमिस्र तत्काल
धुएं का विश्व—विशाल!

'हास' का तो केवल एक-आध स्थान पर ही थोड़ा-सा स्फुरण है। एक तो ज्योत्स्ना में उल्लू के प्रसंग से कुछ आभास मिलता है—दूसरा वीणा की एक कृति में। एक बार अल्मोड़े में राजर्षि विवेकानन्द आये थे। जनता ने उनका स्वागत बड़ा शानदार किया। भोली बालिका यह न समझ सकी कि यह सब क्यों हुआ और अपनी कौतूहल-निवृत्ति के लिए दौड़ी-दौड़ी माँ के पास गई—

माँ अल्मोड़े में आए थे जब राजर्षि विवेकानन्द
क्यों मग में मखमल बिछवाया, दीपावलि की विपुल अमन्द।
बिना पाँवड़े क्या वे मग में जननि नहीं चल सकते हैं?
दीपावलि क्यों की क्या वे माँ! मन्द-दृष्टि कुछ रखते हैं?

बालिका का भोला प्रश्न मीठी गुदगुदी सी उठा देता है उपर्युक्त विवेचन मैंने थोड़ा सा प्राचीनता-प्रेमियों की तुष्टि के लिए ही किया है। वास्तव में पन्त के काव्य की विवेचना पर उससे कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता।

जैसा कि मैंने चित्ररेखा में निवेदन किया है पन्तजी ने प्रारम्भ से ही संयम का बड़ा अभ्यास किया है। उनकी वीणा की कृतियों में भी कहीं-कहीं इसका आभास मिलेगा। पल्लव का युवक कवि तो अवश्य आवेग के प्रवाह में बह गया परन्तु बाद में उसने अपने आप को सम्हाला और तभी से उद्गारों को संयत करने का सफल प्रयत्न

किया है। अब उनकी धारणा कदाचित् यही है कि आधुनिक सभ्यता में पोषित प्रेयसी की भाँति कविता मानसिक विस्फोट सहन नहीं कर सकती—"मैं चाहती हूँ प्रेम की भाषा अधिक संस्कृत प्रेम प्रकट करने से हाव-भाव और भी नवीन एवं परिमार्जित हो" (ज्योत्स्ना) और पन्तजी में हमें आवेश की परिक्षीणता ही मिलती है। भक्त-लोग कहते हैं कि उनका संयम आत्म-विजयी का संयम है। परन्तु मेरी तुच्छ सम्मति में वह संयम अवांछित हा है। वास्तव में ज्यों-ज्यों समय व्यतीत होता गया। कवि की चिंतन-शक्ति और कल्पना विकसित होती गई है और अनुभूति दबती गई है, अथवा इतनी संयत होती है कि उसकी सूक्ष्मता साधारण भावुकता की पकड़ से बाहर है। पल्लव के उपरान्त 'गुंजन' फिर 'ज्योत्स्ना' और अन्त में 'युगान्त' में विकास का जो सूत्र मिलेगा वह मेरे कथन का समर्थन करेगा। युगान्त में कवि हृदय से आगे आत्मा तक पहुँचने का प्रयत्न करता प्रतीत होता है—उसमें चिन्तन का इतना विकास हो गया है कि अनुभूति अधिकांश में दब गई है। अभी तक तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि उन जीवन व्यापी गहन संघर्षों का, जिनके वात्याचक में पड़कर मनुष्य का जीवन कुछ से कुछ हो जाता है, पन्तजी में अभाव है। इन्हीं की कुशल व्यञ्जना के कारण शेक्सपीयर रवीन्द्र आदि संसार के सभी महाकवि अमर रहेंगे और इनकी क्षीणता पन्तजी के भाव जगत में अव्यापकता ला देती है। इसके अतिरिक्त परिवर्तन में फिर ज्योत्सना और युगान्त में उन्होने विश्व-व्यापिनी गूढ़तम समस्याओं पर दृष्टि-पात ही नहीं उनका एक प्रकार से सफल अंकन भी किया है परन्तु फिर भी दूर बैठे हुए दर्शक की भाँति ही उन्होंने ऐसा किया है, उस ताण्डव-अभिनय में प्रविष्ट खिलाड़ी की भाँति नहीं। उन्हीं के शब्दों में—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल-जल-माली!

उनको तो वास्तव में हम यही कहते हुए सुनकर मुग्ध होते हैं—

जग पीड़ित रे अति सुख से
जग पीड़ित रे अति दुःख से

कल्पना

इस आवेश-निर्धनता को पन्तजी कल्पना के द्वारा पूरी करते हैं। कल्पना पन्तजी की कविताओं का प्रधान साधन है। विविध चित्रों का सजीव अंकन उपमा एवं रूपक की मधुर-योजना आदि सब कुछ कल्पना की ही करामात है। वैसे तो वे इसको भी काफी संयत करने का यत्न करते हैं, परन्तु फिर भी इस कामरूपा परी को कहाँ तक कारा में बन्द किया जा सकता है और समय-समय पर वह भू नभ का छोर मिला ही देती है। पन्तजी की कल्पना का सब से बड़ा गुण उसकी मूर्ति-विधायनी शक्ति है। यह शक्ति इतनी विकसित है कि कवि के सम्मुख छोटी से छोटी वस्तु भी मूर्त-रूप में आती है। वास्तव में यह शक्ति सभी प्रतिभावान् कवियों में होती है परन्तु इतना सूक्ष्म विधान बहुतों में नहीं मिलता। व्यापक और विराट के चित्रों में कल्पना की जिस ऊँची उड़ान और व्यापकता की अपेक्षा होती है वह चाहे पन्तजी में न हो (यद्यपि परिवर्त्तन और बादल के कवि के लिए यह नहीं कहा जा सकता) परन्तु जो सूक्ष्मग्रहिणी नुकीली कल्पना 'मीना-कारी' के लिए अपेक्षित है उसका पन्तजी के पास अक्षय भण्डार है। हाँ, ऐसा भी कभी-कभी हो जाता है कि पन्तजी की कल्पना उन्हें बहका ले जाती है—'स्याही की बूँद', 'नक्षत्र' आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। इसका कारण यह है कि इनमें अनुभूति से शून्य कोरी कल्पना मात्र ही है—कवि का हृदय साथ नहीं लगा। परन्तु जब कल्पना और अनुभूति का सामञ्जस्य हो जाता है तो प्रभविष्णुता बढ़ जाती है। जैसी अनङ्ग कविता में—

> मिला लालिमा में सन्ध्या का
> छिपा एक निर्मल संसार
> नयनो में निस्सीम व्योम औ,
> उरोरुहों में सुरसरि-धार!

इसी प्रकार कल्पना अनुभूति और चिन्तन तीनों का उचित सम्मिश्रण हो जाता है। कवि की कृतियाँ संसार की विभूति हो जाती हैं—बापू के प्रति कविता ऐसी ही है। अस्तु!

गीत काव्य

यों तो गीत काव्य हिन्दी में सदा से ही चला आता है; विद्यापति, सूर, मीरा और घनानन्द के भाव-प्रवण पद संसार के गीत-साहित्य में अमर रहेंगे क्योंकि वे उनके हृदय के उन्मुक्त एवं उन्मत्त गान हैं। परन्तु, जिस गीत-शैली का विकास द्विवेदी युग के पश्चात हुआ वह पाश्चात्य लिरिक (Lyric) के ढङ्ग का था। अँग्रेजी रसाचार्यों की दृष्टि से गीत-काव्य की आत्मा है भाव (emotion) जो किसी प्रेरणा के भार में दबकर एक साथ गीत में फूट निकलता है—अतः स्वभाव से ही उसमें हार्दिक (Spontaneity) का तत्त्व वर्तमान रहता है। भाव के भार के कारण उसमें एक प्रकार की एकसूत्रता ही नहीं, एक सुगठित एकता होती है जो समस्त कविता को अन्वित किए रहती है। सच्ची गीत-कविता एक सरल, क्षणिक एवं तीव्र मनोवेग का परिणाम स्वरूप होती है। इस मनोवेग से उसका समस्त अन्तर्बाह्य एक साथ झंकृत हो जाता है—उसके अन्तस् में एक अग्नि प्रज्वलित हो उठती है। यह अग्नि इतनी प्रखर हो जाती है कि और सभी भावना एवं विचार इसमें विलुप्त हो जाते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं रह जाती। यहाँ तक कि कवि स्वयं तदाकार हो जाता और समस्त कविता अपने लिखित स्वरूप में आने से पूर्व ही उद्भासित हो जाती है। इस प्रकार प्रत्येक गीत का जन्म अन्तर्ज्वाला से ही हो जाता है। हाँ, इस ज्वाला की तीव्रता और वेग प्रत्येक कवि की प्रकृति के अनुसार होता है। प्रायः इसका विस्फोट क्षणिक एवं अस्थायी ही होता है इसलिए शुद्ध गीतियाँ छोटी ही होती हैं। इसका प्रकाश उल्का की भाँति ही होता है—एक भावना, एक विचार ही उसको अनुप्राणित करता रहता है। इसी कारण इसमें एक अखण्ड एकता मिलती है। कुछ कवियों मे तो यह अग्नि धीमी-धीमी जलती है जैसे ठाकुर, मतिराम आदि में—कुछ में इसका विस्फोट भयङ्कर होता है जैसे मीरा, बच्चन, नवीन आदि में।

हिन्दी में इस प्रकार की गीत-कविता को जन्म देने वालों में पन्तजी का स्थान ऊँचा है। वीणा की तुतली कविताएँ, पल्लव की आवेग-दीप्त गीतियाँ, सभी उन्मुक्त कण्ठ के स्फुरण हैं। इन सभी को

एक भाव अनुप्राणित करता है—अतः उनकी हार्दिकता एवं स्वाभाविकता अक्षुण्ण है। उदाहरणार्थ वीणा के तो अधिकांश शुद्ध छन्द शुद्ध गीत-काव्य की विभूति हैं। पल्लव में कल्पना का प्राधान्य कहीं-कहीं हार्दिकता में बाधक पड़ता है—जैसे नक्षत्र, स्याही की बूंद आदि कविताओं में—परन्तु फिर भी उसकी अनेक गीतियाँ हृदय के उद्गारों से आक्रान्त हैं। पल्लव का मौन निमन्त्रण, अनङ्ग, विसर्जन और बालापन अन्य गीतों के अमर उदाहरण हैं। तनिक बालापन की अस्फुट झङ्कार सुनिए—

हाँ, हाँ, वही, वही जो जल, थल,
अनिल, अनल, नभ से उस बार
एक बालिका के क्रन्दन में
ध्वनित हुई थी, बन साकार ?

अहो विश्व-स्रज ! पुनः गूँथ दो
वह मेरा बिखरा सङ्गीत।
माँ की गोदी की थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत !

मौन निमन्त्रण का प्रत्येक पद अपने में पूर्ण और एक सूत्र में गुम्फित है। तदुपरान्त जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ पन्तजी अपने आपको संयत (Contained) करने लगे और हार्दिकता की कमी होने लगी। गुञ्जन में चिन्तन बढ़ने लगा और ज्योत्स्ना के कुछ गीतों को छोड़ युगान्त में आकर फिर वह अत्यन्त विकसित हो गया! अतः स्वभावतः ही गीत-कवितायें इन दोनों संग्रहों में उँगली पर गिनने योग्य हैं। गुञ्जन की—

कब से विलोकता तुमको ऊषा आ वातायन से !

अथवा—

मुसकरादी थीं क्या तुम प्राण !
मुसकराया था स्वर्ण-विहान !

आदि कविताओं में उन्मुक्तता पूर्ण रूप से वर्तमान है। युगान्त में ऐसे गीत और कम हो गये हैं फिर भी 'छाया'—

वह लेटा है तरु-छाया में,
सन्ध्या-विहार को आया मैं।

शुद्धतम लिरिक का उदाहरण है। अन्य कवितायें या तो अलंकृति के कारण या चिन्तन के कारण शुद्ध लिरिक नहीं कही जा सकतीं। 'अप्सरा' में कवि का गीति-तार अलङ्कारों के बोझ से पूर्णतया छिन्न-भिन्न हो गया है। इसी प्रकार उनकी पल्लव की 'छाया' के लिए भी वही कहा जा सकता है जो स्टाफर्ड ब्रुक ने शैली के प्रसिद्ध गीत 'स्काईलार्क' के लिए कहा था। उनका कहना है कि उपमाओं के कारण कविता में आवेग (Impulse) का तार टूट गया है। वास्तव में पन्तजी की अधिकांश कविताओं में मूलवर्ती भाव या तो पर्याप्त रूप से उद्दीप्त नहीं रहा अथवा चिन्तन या किसी और वजह से लिखते समय ठण्डा पड़ गया है सच तो यह है कि पन्तजी आवेश-प्रधान कवि नहीं हैं—अतः उनमें वह अग्नि प्रायः नहीं मिलती जो गीत-काव्य की प्राण है—और यदि है भी तो मन्द-मन्द सुलगती ही है, उसमें विस्फोट कभी नहीं होता

पन्तजी की विचार-धारा

भावुकता को विचार धारा से पूर्णतया पृथक कर लेना असम्भव है। अतः पन्तजी के थोड़े बहुत विचारों का परिचय हमें उनकी भावुकता के साथ मिल चुका है। फिर भी ईश्वर, जीव, प्रकृति और इस त्रैत के अन्तर्गत आने वाली, जीवन, मृत्यु, सुख-दुख आदि गहनतम समस्याओं के प्रति उनका दृष्टिकोण क्या है यह भी जान लेना उनको समझने के लिए अनिवार्य है। पश्चिमी कला और सभ्यता की अमिट छाप होने पर भी पन्तजी सच्चे आस्तिक हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'ईश्वर पर चिर-विश्वास मुझे'। और विश्वास को वे जीवन का अनिवार्य अङ्ग समझते हैं।

सुन्दर विश्वासों से ही
बनता रे सुखमय जीवन

परिवर्तन में विश्व के अन्तर में व्याप्त इस एक ही शक्ति के विषय में वे कहते हैं—

एक ही तो असीम उल्लास,
विश्व में पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि में हरित विलास
शरत अम्बर में नील विकास
वही उर उर में प्रेमोछ्वास,
काव्य में रस, कुसुमों में वास।

यही एक उल्लास कभी-कभी करुणा-प्लावित हो जाता है और हम सुनते हैं।

गगन के उर में भी है घाव, देखतीं ताराएँ भी राह।
बँधा विद्युत छवि में जलवाह, चन्द्र की चितवन में भी चाह।

यही एक अज्ञात शक्ति कभी-कभी प्रियतम के रूप में स्वप्न में आकर पन्तजी को छायावन में फिराती है और वे विस्मित से कह उठते हैं—

न जाने कौन अहे द्युतिमान,
जान मुझको अबोध अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान
फूँक देते छिद्रो में गान—
अहे सुख दुख के सहचर मौन
नहीं कह सकती तुम हो कौन ?

इसी अज्ञात शक्ति को जगज्जननी मान कर भी पन्तजी ने बहुत सी याचनाएँ की हैं। यहाँ पन्तजी के शब्दों में उनका 'रहस्यवाद' है—और जैसा कि उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट है यह रहस्यवाद शुष्क अद्वैतवाद से भिन्न है। उसमें भक्ति-भावना का भी थोड़ा सा सम्मिश्रण है। वे कोरी मुक्ति से घबराते हैं—

तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन।

ये तो प्रियतम को अणु-अणु में व्याप्त देख कर उसकी मधुर छबि का आभास पाते हैं—

मुस्करादी थीं क्या तुम प्राण !
मुस्कराया था स्वर्ण-विहान !

ईश्वर की महत्ता के साथ वे जीव की महत्ता भी कम नहीं मानते ! वे उसके गौरव से अभिभूत हैं—'मानव दिव्य स्फुलिंग चिरन्तन' में इसी अमरता का गान है। इसी प्रकार कवि प्रकृति को भी सत्य मानता है क्योंकि वह ईश्वर का ही तो प्रतिबिम्ब है—

शाश्वत नभ का नीला विकास,
शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास !
हे जगजीवन के कर्णधार !
चिर-जन्म मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन नौका विहार !

और इस कारण उनको यह सब कुछ प्रिय है—

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर
तृण, तरु, पशुपक्षी, नर सुर वर
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर !

जब जगत सत्य और सुन्दर है तो जीवन भी सत्य और सुन्दर है—अतः वे कह उठते हैं—

जगजीवन में उल्लास मुझे
नव आशा नव अभिलाष मुझे।

परन्तु क्या वास्तव में जीवन ऐसा ही है—उसमें तो 'सर्वत्र ऊहापोह और क्रान्ति मची हुई है।' कवि कहता है इसका कारण यह है कि मनुष्य मानव-जीवन का अर्थवाद की दृष्टि से तत्त्वावलोकन कर रहा है। कवि कोरे ज्ञान को 'शून्यजृम्भामात्र निद्रित बुद्धि की' मानता है—और इसीलिए तो उसका कथन है—

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का

उसका इस विषमता के लिए (Solution) यही है "कि जीवन को पूर्ण बनाने के लिए उसके अन्तर में प्रवेश करने की आवश्यकता है—

जीवन के अन्तस्तल में
नित बूढ़ बूढ़, रे नाविक

उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर होना है। और यह कार्य, काव्य, संगीत, चित्र और शिल्प द्वारा अर्थात् स्वप्न और कल्पना की सहायता से मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानव-मूर्तियों को स्थापित करके पूरा हो सकेगा। इसके लिए वांछित उपादान है—

आशाऽभिलाष उच्चाकांक्षा,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय,
विश्वास असद्सद् का विवेक,
दृढ़ श्रद्धा सत्य, प्रेम अक्षय।
मानसी विभूतियाँ, ये अमन्द,
सहृदयता त्याग सहानुभूति—
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति स्वर्गीय स्वाभावमूर्ति।

राजनैतिक और सामाजिक उत्तरदायित्त्व

जीवन को पूर्ण बनाने के लिए मनुष्य सदा से शासन का पक्षपाती रहा है ! राजनैतिक बन्धन ही नहीं नैतिक, सामाजिक, मानसिक, कायिक अनेक श्रृङ्खलाओं मे अपने को बाँध कर मनुष्य ने मिथ्या के अनियमों और विद्रोह से मुक्ति पाई है। परन्तु शासन कैसा होना चाहिए यही पन्तजी के मि० नीलरतन से पूछिये "इसी प्रकार चाहे राजतन्त्र हो अथवा प्रजातन्त्र मानव सत्य के नियमों से परिचालित होने पर ही वे मनुष्य जाति की सुख समृद्धि के पोषक बन सकते हैं। सच तो यह है कि मनुष्य को शासन-पद्धति अथवा उसके नियमों का आविष्कार नहीं करना है, उसे केवल सत्य की जिस प्रणाली से समस्त विश्व चलता है उसे पहिचान भर लेना है।" उसके लिए शासकों को जनता के प्रति सेवकों का सा भाव होना चाहिए—यही लोक-विज्ञान की चरम परिणति है। सुश्री कमला के शब्दों में "हमारा (आदर्श) शासक-वर्ग शासन के बाह्य रूप-रङ्गों से लुब्ध न होकर, एवं शासन नीति को हृदय की पवित्र वस्तु मानकर जनता के हृदय में व्यवधान ही खड़ा नहीं होने देता।" हमारा (आदर्श) दण्ड विधान मानव-सद्भावों का घातक नहीं।....कारागार सबसे बड़े शिक्षालय हैं इसीलिए अब उन्हें शिक्षागार कहते हैं। हम दण्ड के बदले चारित्रिक शिक्षा देते हैं।"

सामाजिक आदर्श

पन्तजी का सामाजिक आदर्श है मि० खेर के शब्दों में—जिस प्रकार व्यक्ति समाज का मान नहीं हो सकता उसी प्रकार समाज भी व्यक्ति का मान नहीं बन सकता । हमारे सामाजिक एवं वैयक्तिक आदर्शों का वैषम्य एवं विभिन्नता इसका ज्वलन्त प्रमाण है। समाज एवं व्यक्ति में सामञ्जस्य स्थापित करना ही होगा।" इसके लिए हृदय की शिक्षा की आवश्यकता है। "शिक्षा हृदय की साधना है। ज्ञानपद के मूल हृदय के सरोवर में है। बुद्धि से जान लेना, जान लेना नहीं। हमारी समस्त चेष्टा इस ओर रहती है कि हमारे विद्यार्थी बुद्धि द्वारा जिस सत्य के दर्शन-मात्र करते हैं उसे हृदय की अभिराम साधना से अपने में साकार करलें। हृदय की शिक्षा में ही हमारी

विश्व संस्कृति के मानव प्रेम के एवं समस्त जीव कल्याण के मूल अन्तर्निहित हैं।"

संक्षेप में ज्योत्स्ना के कवि कुमार (जो स्वयं पन्तजी का ही प्रतिरूप है) के शब्दों में कवि का सन्देश है—"जन्म-मरण, सुख-दुख जीवन के बाह्य विरोधी एवं प्रतीक आविर्भावों के बीच मनुष्य को, अपनी सहज बुद्धि से काम लेकर एक बार सामञ्जस्य स्थापित करना ही पड़ता है। मनुष्य के आधे से अधिक असन्तोष का कारण बुद्धि-जन्य है। जीवन के सम्यक् ज्ञान से ही जीवन का सम्यक् उपभोग हो सकता है। समस्त विरोधों के भीतर जीवन की अविच्छिन्न एकता खोज कर उस पर हृदय केन्द्रित कर लेना होता है, तब मनुष्य जीवन के उस चरम सूत्र को ग्रहण कर लेता है, जिसके छोरों में बँधे सुख-दुख, जन्म मरण आदि द्वन्द्व तुला के पलड़ों की तरह उठते-गिरते रहते हैं।" —और 'इसी चरम सत्य के दर्शन करना, अनेकता में जीवन की एकता का आभास दिखाना कलाकार का काम है।' कहने की आवश्यकता नहीं कि पन्तजी ने 'पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म-प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि-पंजर में भूत या जड़विज्ञान के रूपरङ्ग भर कर' दर्शन की यह 'सापेक्षतः परिपूर्ण' मूर्ति निर्मित की है। उनकी यह विचारधारा विकसित साम्यवाद और काल्पनिक समाजवाद के सामञ्जस्य के रूप में उद्गीर्ण हुई है। कुछ आलोचकों का कहना है कि पन्तजी की फिलोसोफी निष्क्रिय है। परन्तु यह सत्य नहीं—वे तो इच्छा को ही जग का जीवन और साधन को आत्मा का धन मानते हैं—हाँ, परन्तु जीने की इच्छा करना छलमात्र है—इसीलिए तो वे कह उठते हैं—"ना मुझे इष्ट है साधन" और निर्झर के द्वारा हमें कर्मयोग का आख्यान देते हैं। यही सन्देश परिवर्तन में स्पष्ट हो जाता है—

स्वकीय कर्मों के ही अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार

अन्त में इसकी परिणति आत्म बलिदान में ही होकर रहती है—

महत् रे महत् आत्म बलिदान!

जीवन और मृत्यु

कवि ने जीवन-सरिता के प्रवाह को शाश्वत माना है। अतः

उसमें जन्म मरण का चिर-बन्धन लगा हुआ है। जन्म और मृत्यु इस जगत् के दो द्वार हैं—

वृद्ध बालक फिर एक प्रभात
देखता नव्य स्वप्न अज्ञात,
मूँद प्राचीन मरन,
खोल नूतन जीवन!

यदि जीवन विकास है तो मृत्यु क्रम के ह्रास का नाम है—बस! यही बात ज्योत्स्ना में स्वप्न और कल्पना कहते हैं—"जब तक हम लोग विश्व के मनस्तत्त्व के इन नाम रूप के कोषों को धारण किये रहेंगे, मानव जाति विश्राम नहीं ले सकगी अतएव हमें पुनः अनन्त में लय होकर अव्यक्त हो जाना चाहिए। बीज संसार को पत्र-पुष्प फल देकर फिर बीज में ही परिणत हो जाता है। यही सृष्टि का रहस्य है।"

सुख-दुःख

सुख और दुःख का प्रश्न भी इन्हीं में मिला हुआ है। वास्तव में कवि के ही शब्दों में—

जगजीवन में है सुख दुख
सुख दुख में ही जगजीवन।

और संसार में रह कर सुख-दुःख को भूल भी कौन सका है—

सुख दुख न कोई सका भूल!

अब हमें यह देखना है कि पन्तजी को इनमें से किस में विशेष अनुरक्ति है—उनका स्वभाव विश्व में किसकी विशेषता का अनुभव करता है। यह पन्तजी का प्रिय विषय है और इस विषय में ग्रन्थि से गुञ्जन, गुञ्जन से ज्योत्स्ना, ज्योत्स्ना से युगान्त में उनकी फिलासफी में एक विकास पाया जाता है। कवि अधिकतर जीवन को उल्लासमय ही अनुभव करता है। परन्तु प्रौढ़ कवि का यह विश्वास एक विकास का ही परिणाम है। ग्रन्थि और पल्लव का युवक कवि वेदना और आँसू के प्रति आकृष्ट होकर उनको ही जीवन का मूल-आश्रय समझता था और एक बार नहीं अनेक बार दुःखवाद का सिद्धान्त घोषित कर चुका था। ग्रन्थि में वेदना की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उसने लिखा था—

वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पट
वेदना ही है···· ;···· ·············· ···· ।

और इसी का अनुवाद वह परिवर्तन में कर चुका था ।

विना दुःख के सब सुख निस्सार,
विना आँसू के जीवन भार

परन्तु समय के साथ नवीन गांभीर्य्य और गांभीर्य्य के साथ ज्यों-ज्यों नवीन संयम आता गया, पन्तजी की विचार धारा में एक परिवर्तन दिखाई देने लगा। यह समय कवि का दैहिक और दैविक आपत्तियों का था। उधर पूज्य पिता का स्वर्गवास इधर अपनी रुग्णा-वस्था दोनों ने मिल कर उसे जर्जरीभूत कर दिया। परन्तु शीघ्र ही प्रभु की कृपा से स्वास्थ्य-लाभ कर कवि का जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदल गया, उसमें नव आशा, नव अभिलाषा का सञ्चार हो गया। पल्लव का करुण-क्लिष्ट भाव त्याग कर अब उसका मन-मधुप जीवन मधु-सञ्चय को उन्मन होने लगा। फिर भी वह उन्मन ही था और जीवन को सुख-दुख से ही पीड़ित समझ कर वह उनके समविभाजन की प्रार्थना करता था—

जग पीड़ित रे अति सुख से
जग पीड़ित रे अति दुख से,
जग में आकर बट जाएँ
सुख दुख से और दुख सुख से

परन्तु धीरे-धीरे यह कसक भी निकलने लगी और उसे उसकी औषधि मिल गई :—

जीवन के अंन्तस्तल में
नित बूड़ बूड़ रे नाविक !

क्योंकि:—

अस्थिर है जग का सुखदुख
जीवन ही नित्य चिरन्तन ।
सुख दुख से ऊपर मनका
जीवन ही रे अवलम्बन !

ज्योत्स्ना में यही भावना अधिक प्रस्फुटित हो जाती है और कवि कहता है—

मानव का सबसे बड़ा महत्त्व यही है कि वह मानव है—

क्या कमी तुम्हें है त्रिभुवन में
यदि बने रह सको तुम मानव ?

कवि मानव का स्तुति-गान करता हुआ कहता है—

गा कोकिल सन्देश सनातन !
मानव दिव्य स्फुलिङ्ग चिरन्तन
वह न देह का नश्वर रज-कण,
देश काल है उसे न बन्धन
मानवपन का परिचय मानवपन !

अथवा

देवता यही मानव शोभन

वास्तव में मानव का प्रशस्ति-गान ज्योत्स्ना या युगान्त से अधिक और कहाँ मिलेगा ?

नारी

मानव-जगत में भी पन्तजी नर की अपेक्षा नारी से अधिक प्रभावित हैं, उसी का गुण-गान करना उन्हें अधिक प्रिय है—

तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता ध्यान ।
तुम्हारी पावनता अभिमान
शक्ति पूजन, सम्मान !

इनके स्वर्ण-जगत की भावी-सम्राज्ञी ज्योत्स्ना भी नारी ही है। विलासी इन्दु की अशक्तता एवं ज्योत्स्ना की विशेषता के प्रदर्शन द्वारा नर के ऊपर नारी की चिर-प्रभुता का ही संकेत किया गया है । हाँ, 'युगान्त' में कवि में 'पुंसत्व' का आभास मिलने लगा है। देखें आगे यह भावना कैसा रूप धारण करती है ।

अन्त में सर्वांशेन दृष्टिपात करते हुए हमें पन्तजी की विचार-धारा में ोक विकास-सूत्र मिलता है जिससे उनके दर्शन की प्रौढ़ता का पाँकृतिं होता है । हम यह देख ही चुके हैं कि कवि के विचार, सभी रे स्थूलओं पर सुलझे हुए हैं । हाँ, अनुभूति की कमी अवश्य

हृदय पर उसका एक साथ प्रभाव नहीं पड़ने देती। कवि के मस्तिष्क और आत्मा अब हृदय पर पूर्णतया विजयी हो गए हैं। बाहर से निराश होकर अब कवि स्वाभाविक रीति से अन्तरात्मा की ओर मुड़ा है और उसका अध्ययन उसे अच्छा है—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल
भावी मानव के हित भीतर
सौन्दर्य स्नेह उल्लास मुझे
मिल सका नहीं जग के बाहर!

परन्तु अभी तो वह—

धुन जग का दुर्गम अन्धकार
चुन नाम रूप का अमृत सार,
मैं खोज रहा खोया प्रकाश,
सुलझा जीवन के तार तार।

यह प्रकाश अद्यावधि उसे मिला नहीं है। अतः संसार के दार्शनिक भण्डार को वह अभी कोई मौलिक देन नहीं दे सका। हाँ, भिन्न-भिन्न दार्शनिक विचार-धाराओं का अध्ययन उसका काफी पुष्ट और सुलझा हुआ है।

कला

एक फ्रांसीसी समालोचक के शब्दों से "कला प्रकृति की अनजान में की हुई विवेचना है—जो अपूर्ण है, कला उसी की पूर्ति है।" वह लेखक की सौन्दर्य्यानुभवी अन्तरात्मा का मूर्त स्वरूप है—उसके अमूर्त भावों का बाह्य-रूप रंग से चित्रित प्रतिबिम्ब है। स्थूल रूप से हम कह सकते हैं कि अपनी कृति में सौन्दर्य्य का प्रतिफलन करने के लिए कलाकार जिन साधनों का उपयोग करता है वे सभी कला के प्रसाधन हैं। कविवर मैथिलीशरण ने उसे 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्ति' कहकर इसी ओर संकेत किया है। कला शब्द में ही, मेरी समझ में कुछ कृत्रिमता का आभास वर्तमान रहता है, तभी तो वह प्रकृति से सदैव विभिन्न समझी और कही गई है। इस निबन्ध में मैंने कला का यही अर्थ ग्रहण करते हुए, उसके सूक्ष्म भावमय (abstract) विवेचन की उलझन से बचने का प्रयत्न किया है।

पन्तजी प्रधान रूप से कलाकार ही हैं। इनके काव्य में सबसे प्रथम कला का, उसके उपरान्त विचारों का और अन्त में भावों का स्थान रहता है। आपका विद्रोह सबसे अधिक कला के क्षेत्र में ही प्रकट हुआ है। भावों में जहाँ आपने उपयोगिता के विरुद्ध भावुकता का विद्रोह खड़ा किया है वहीं कला में रूढ़ि और रीति की जटिलता के विरुद्ध सहज अलंकृत स्वाभाविकता का स्वरूप सन्मुख रखा है। कलाकार के रूप में पन्तजी के लिए जितना कहा जाय थोड़ा ही है। कला का यह चिर सुन्दर स्वरूप उनकी मनन-प्रवृत्ति का ही फल है। पन्तजी मनन को प्रतिभा के ही समकक्ष रखते हैं—

मनन कर मनन, शकुनि नादान
न पिक-प्रतिभा पर कर अभिमान!

उनकी रङ्गीन कला इतनी कोमल है कि विश्लेषण करते ही वह तितली के पङ्खों की तरह बिखर जाती है और समालोचक को अपनी कृति पर पश्चात्ताप करने की ही अधिक सम्भावना रहती है। फिर भी स्थूल रूप से थोड़े से गुणों का विवेचन किया जा सकता है।

चित्रण शक्ति

सबसे प्रथम जो वस्तु हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह है उनकी चित्रण कला। कवि की कल्पना इतनी सचेतन एवं प्रखर है कि प्रत्येक अनुभूति उनके सम्मुख चित्र रूप मे आती है और उसको ज्यों का त्यो अनुवादित करके वे वायु पर रंगीन रेखाएँ खींच देते है। काव्य, चित्र, सङ्गीत तीनों की सरस त्रिवेणी इनकी प्रत्येक पंक्ति में नहीं प्रत्येक शब्द में तरङ्गित रहती है। सुहाग की मधुमयी रात्रि में प्रियतम के पास जाती हुई नायिका का चित्र देखिए—

अरे यह प्रथम मिलन अज्ञात !
विकम्पित उर मृदु, पुलकित गात
सशङ्कित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप,
जड़ित पद नमित पलक दृग-पात;
पास जब आ न सकोगी प्राण !
मधुरता में सी भरी अजान
लाज की छुई मुई सी म्लान
प्रिये प्राणों की प्राण !

प्रत्येक शब्द एक सजीव चित्र की भाँति जड़ा हुआ है। जड़ित पद, 'नमित-पलक दृग-पात' में ठिठकी हुई म्लानमुखी लज्जावती का रूप कितना प्रत्यक्ष है। ऐसा ही एक अल्प-गतिशील चित्र सन्ध्या का 'युगान्त' में अङ्कित किया है—

ग्रीव तिर्य्यक, चम्पक द्युति गात,
नयन मुकुलित, नतमुख जलजात,
देह छवि छाया में दिन रात,
कहाँ रहती तुम कौन ?

कवि की चित्र-ग्राहिणी शक्ति कितनी प्रखर है इसका अनुमान ज्योत्स्ना में दिये हुए सन्ध्या, ज्योत्स्ना, इन्दु आदि के परिपूर्ण चित्रों और अनेकों दृश्य-विधानों (Setting) के अङ्कन से किया जा सकता है। एक दृष्टि सन्ध्या की छवि पर तो डालिए—"मूँगे के फर्श पर, धुनी हुई रुई की तरह ढेर-ढेर कोमल सुनहला प्रकाश बिछा है; जिस पर गेरुए मलमल की धोती पहिने, प्रौढ़ उम्र सन्ध्या, निष्कम्प दीप-

शिखा की तरह, दत्त-चित्त बैठी है! मृणाल-सी लम्बी पतली खुली बाहें, वक्षस्थल के साँझ के उरोज बारीक सुनहली कंचुकी से कसे, दमकते भाल पर दो एक चिन्ता की रेखाएँ, भौंहें पतली कुछ अधिक झुकी हुई, स्निग्ध शरद् आनन, शान्त गम्भीर मुद्रा, कपोलों कन्धों एवं पृष्ठ भाग पर रुपहले सुनहले बाल बिखरे।" सन्ध्या का यह चित्र, पाठक देखें सुन्दर तो है ही, साथ ही कितना सच्चा है!

उपरोक्त सभी उदाहरण तो स्थिर-चित्रों के हैं। कवि की प्रतिभा उन्हीं तक सीमित नहीं है, उन्होंने गत्यात्मक सौन्दर्य का अङ्कन भी कुशलता के साथ किया है। वे चित्र चल-चित्रों के सदृश दृष्टि के सम्मुख नाचने लगते हैं—

चमक-झमक-मय, मन्त्र बशी-कर,
छहर-घहर-मय विष सीकर।
स्वर्ग-सेतु-से इन्द्र धनुष-धर,
काम-रूप घनश्याम अमर।

कुशल-चित्रकार की प्रतिभा का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि वह अपने चित्र में उन वस्तुओं का ही अङ्कन करे जो प्रभावोत्पादक और आह्लादकारी हैं और अन्य साधारण अथवा वांछित प्रभाव में बाधक, सभी वस्तुओं को छाँट-छाँट कर अलग कर दे। पन्तजी की दृष्टि इन सार वस्तुओं को तुरन्त ही पकड़ लेती है और उन्हीं का सजीव चित्रण उपस्थित कर, चित्र में जान डाल देती है। इस चयन प्रवृत्ति के द्वारा युगान्त में सन्ध्या का चित्र कितना पूर्ण उतरा है—

बाँसों का झुरमुट
सन्ध्या का झुटपुट
हैं चहक रहीं चिड़ियाँ
टी वी टी टुट् टुट्!

सन्ध्या की समस्त दिगन्त-व्यापिनी शोभा का चित्रण न करके कवि ने केवल दो बातें ही दिखलाई हैं—सन्ध्या का झुट-पुट और बाँसों का झुरमुट जिसमें चिड़ियाँ 'टी वी टुट् टुट्' कर रही हैं। इन्हीं दो तत्त्वों ने समस्त वातावरण उपस्थित कर दिया है। आगे—

ये नाप रहे निज घर का मग.

कुछ श्रम-जीवी धर डगमग पग,
भारी है जीवन भारी पग।

में भारी पैरो से चलते हुए थके-माँदे श्रम-जीवियों के वर्णन ने तो चित्र को सभी प्रकार परिपूर्ण और सजीव कर दिया है। सभी कुशल कलाकारो की भाँति पन्तजी की चित्रण-कला की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सदैव संश्लिष्ट-योजना रहती है। वस्तु-परिगणन-प्रणाली के अनुसार उन्होंने कोई चित्रण नहीं किया।

नौका से उठती जल हिलोर!
सामने शुक की छवि झलमल, पैरती परी-सी जल में कल
रुपहरे कचों में हो ओझल
लहरो के घूँघट से झुक-झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक्-मुख
दिखलाता, मुग्धा-सा रुक-रुक!

कहीं-कहीं यह कलाकार एक ही रेखा से अथवा एक ही अनुभाव के द्वारा भावपूर्ण चित्र खचित कर देता है, यथा 'सरलपन ही था उसका मन', में सरला-मुग्धा का भावमय चित्र कितना स्फुट अङ्कित हुआ है। अनुभाव के वर्णन द्वारा ही ऊपर दिए हुए श्रम-जीवियो के चित्र की रूप-रेखा खींची गई है।

चित्रमय विशेषण

कला की यही प्रवृत्ति विकसित होते-होते बहुत ही संकोचशील (Concentrated) हो जाती है और कवि एक ही विशेषण के द्वारा समस्त चित्र उपस्थित करने में सफलता प्राप्त कर लेना है। पन्तजी की इस अङ्कन-कला का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है—सचित्र विशेषणों का चयन। वे एक ही शब्द में अपनी व्यापिनी कल्पना को समेट-सिकोड़ कर बन्द कर देते हैं। इस प्रकार के एक शब्द-चित्र (One word pictures) हमें उनके काव्य में सर्वत्र ही मिलते हैं। एक प्रकार से पन्तजी की कविता का यह एक अत्यन्त प्रिय प्रसाधन है। इसके मूल में सांध्यवसाना का चमत्कार वर्तमान रहता है। नक्षत्र कविता तो समस्त ऐसे ही सचित्र विशेषणों से जड़ी हुई है—

'स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय!' से अधिक व्यञ्जक नक्षत्र का चित्र नहीं हो सकता! इसी प्रकार कहीं 'मारुत' को 'नभ की

निसीम हिलोर' कहा गया है तो 'निर्झर' को 'मूक गिरिवर का मुखरित गान' कह कर उसका नादमय चित्र खींचा है। 'बापू के प्रति' कविता में 'अस्थि-शेष', 'माँस-हीन', 'नग्न' आदि विशेषण कितने चित्रोपम हैं। युगान्त में तितली से कवि कहता है :—

तुमने यह कुसुम-विहग लिवास,
क्या अपने मुख से स्वयं बुना?

× × ×

वह स्वर्ग छिपा उर के भीतर
क्या कहती यही, सुमन-चेतन।

उपरोक्त उद्धरणों में प्रयुक्त दो विशेषण, 'कुसुम-विहग' और 'सुमन चेतन' सार्थकता एवं चित्रोपमता की दृष्टि से अमूल्य हैं, अभूतपूर्व हैं। इन विशेषणों में केवल चित्रोपमता ही नहीं मिलती, कहीं-कहीं ये भावुकता अथवा अर्थ-गाम्भीर्य-समन्वित भी होते हैं। जैसे 'बादल' को 'मेघदूत की सजल कल्पना' कहना एक सकरुण प्रसङ्ग की याद दिलाता है। अर्थ-गाम्भीर्य का उदाहरण बापू का 'पूर्ण इकाई' वाला सम्बोधन है। कहीं-कहीं इनकी अति भी हो जाती है और कविता विशेषणों का सूचीपत्र-सी लगने लगती है—जैसे 'नक्षत्र'।

किं-बहुना पन्तजी की यह प्रतिभा अपरिमेय है। इसके मूल में उनकी रंगीन कल्पना तो है ही साथ ही अनुभूति का भी कम संयोग नहीं है। पन्तजी प्रकृति के साथ ऐसे घुल-मिल गए हैं कि उसके प्रत्येक स्वरूप का उनके निर्मल हृदय पर स्पष्ट चित्र उतर आता है और वे अपनी कला की सहायता से उसका ज्यों का त्यों चित्रण कर देते हैं। इन चित्रों में रङ्गों और प्रकाश के साथ स्वाभाविकता और यथार्थता पूर्ण रूप से विद्यमान रहती है।

शब्दों की अन्तरात्मा का ज्ञान

कवि अपने चित्रों में इतनी दिव्य रूप-रेखा खींचने में इसलिए समर्थ हो सका है कि उस पर शब्दों के अन्तर्बाह्य दोनों का रहस्य पूर्णतया प्रकट है। उनकी अन्तरात्मा और शरीर का जितना सूक्ष्म ज्ञान पन्तजी को है उतना हिन्दी में गिने-चुने कवियों को ही होगा। इसी कारण उनका प्रत्येक शब्द व्यञ्जनापूर्ण (Suggestive) है।

जो शब्द जहाँ पर जड़ दिया गया उसका स्थान वहीं पर निश्चित रहेगा। पन्त के लिए एक-एक शब्द मूर्त रूप रखता है अतः हमको उनकी कविताओं मे एक ही पर्य्यायवाची शब्द के भिन्न-भिन्न चित्रोपम प्रयोग मिलते हैं। उनकी चक्षुरिन्द्रिय जितनी अन्तर्प्रवेशिनी है श्रोत्रेन्द्रिय उतनी ही शिक्षित और सूक्ष्म ग्राहिणी है। शब्द को सुनते ही कानों के मार्ग से उनका अनुरूप चित्र उनकी आँखों के सम्मुख उपस्थित हो जाता है। इस विषय में स्वयं कवि के ही विचार मनन करना उचित होगा। "कविता के लिए चित्रभाषा की आवश्यकता पड़ती है। उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों जो अपने भाव को अपनी ही ध्वनि मे आँखों के सामने चित्रित कर सकें, जो झङ्कार में चित्र, चित्र में झङ्कार हों।"

कहीं-कहीं उनकी अन्तर्दृष्टि सूक्ष्मतम रहस्यों के अन्तर मे प्रवेश कर जाती है और उनके शब्द-प्रयोगों में बड़ा ही तरल अन्तर मिलता है, जैसे 'प्रिय' और 'प्रि' में—

प्रिय प्रिय बिषाद यह अपना,
प्रिय प्रि आह्लाद रे अपना।

जो संकेत और व्यञ्जना 'प्रि' आह्लाद में है वह प्रियाह्लाद में नहीं। क्योंकि आह्लाद में पृथक रहने पर, जो हृदय को खिला देने की शक्ति है वह समस्त प्रियाह्लाद में नहीं, उसकी बहुलता में एक अनावश्यक संगठन-सा आ गया है जिससे बिखरने का भाव पूर्णतया लुप्त हो जाता है। पल्लव के प्रवेश में पन्तजी कृत महताकाश और महदाकाश की विवेचना इसी पर प्रकाश डालती है, पहले में एक स्वच्छता और प्रकाश का आभास है तो दूसरे में घिराव का। एक उदाहरण और देने से यह गुण अधिक स्पष्ट हो जायगा—

अरी सलिल की लोल हिलोर,
आ मेरे मृदु अङ्ग झकोर,
नयनो को निज छबि में बोर,
मेरे उर में भर यह रोर।

(बीचि-विलास, पल्लव)

अनिल-पुलकित स्वर्णाञ्चल लोल
मधुर-नूपुर-ध्वनि खग कुल रोल।

(सन्ध्या-युगान्त)

कवि ने वीचियों की ध्वनि के लिए 'रोर' और खगकुल के साथ 'रोल' का प्रयोग किया है। इस 'र' और 'ल' के सूक्ष्म अन्तर में ही एक भाव सन्निहित है—'र' के द्वारा लहरो का बिखरता हुआ शब्द और 'ल' द्वारा पक्षियों का कुछ बँधा हुआ तीव्र स्वर व्यञ्जित होता है—अस्तु!

पन्तजी के प्रयोगों की यह व्यञ्जना शक्ति कभी-कभी इतनी विकसित हो जाती है कि एक ही शब्द समस्त वाक्य को अनुप्राणित करता रहता है, यथा—

तुम पूर्ण इकाई जीवन की
जिसमें असार भव-शून्य लीन!

यहाँ इकाई शब्द के साथ पूर्ण ने मिल कर अर्थ में जितना गाम्भीर्य्य ला दिया है उतना और पर्य्यायवाची शब्दों की शक्ति से बाहर था। अकेला इकाई शब्द इन दोनों पंक्तियों की आत्मा स्वरूप वर्तमान है। इस विषय में स्वयं कवि के ही अमूल्य विचार ज्ञातव्य हैं—"भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्दों, प्रायः सङ्गीत-भेद के कारण, एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं जैसे भ्रू से क्रोध की वक्रता, भृकुटि से कटाक्ष की चञ्चलता, भौंहो से स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही हिलोर में उठान, लहर में सलिल के वक्षस्थल की कोमल कम्पन, तरङ्ग में लहरों के समूह का एक दूसरे को धकेलना, उठ-उठ गिर पड़ना, बढ़ो-बढ़ो कहने का शब्द मिलता है। वीचि से जैसे किरणों में चमकती, हवा के पलने में हौले-हौले झूमती हुई हँसमुख लहरियों का, ऊर्मि से मधुर मुखरित हिलोरों का, हिल्लोल कल्लोल से ऊँची बाहे उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरङ्गों का आभास मिलता है।…

वर्ण-परिज्ञान (SENSE OF COLOUR)

इस विषय में जो दूसरी बात उल्लेखनीय है, वह है उनकी वर्ण योजना! चित्र-शब्द ही वर्णों की अपेक्षा करता है। अतः प्रत्येक कलाकार को रङ्गों का बड़ा सूक्ष्म ज्ञान होना आवश्यक है। अँगरेजी के कीट्स, रोसटी, स्विनबर्न, राबर्ट ब्रिजेस आदि बहुत से, एवं संस्कृत के बाण-भट्ट, कालिदास आदि कवि पुंगव इस कार्य में बड़े प्रवीण

थे। हिन्दी में भी विद्यापति, बिहारी, सूर आदि कवियो के कुछ छन्दों में इसका सुन्दर आभास मिलता है। पन्तजी की वर्ण-योजना बड़ी सूक्ष्म है। आप अपने शब्द-चयन के बल पर वही कर दिखाते हैं जो एक कुशल चित्रकार रङ्ग, छाया और प्रकाश के चित्रण से कर सकता है। यही नहीं, कहीं तो हमको रूप, रंग के अतिरिक्त स्पर्श और गन्ध का भी आस्वादन हो जाता है। गुञ्जन के 'नौका विहार' को पढ़ कर पाठक स्वयं बीचि-जाल एवं गम्भीर के स्पर्श से पुलकित हो उठता है।

चाँदी के साँपों सी रलमाल, नाचती रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं सी खिंच तरल-सरल।

इसी कविता के दूसरे पद में मन्द-मन्द संचरण करती हुई नौका हमारे सम्मुख नाचने लगती है।

आँसू कविता में वर्ण-मिश्रण की छटा देखिए—

देखता हूँ जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका,
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला;

इन्द्र धनुप के विविध रंग कुछ धूमिल सा रेशमी घूँघट और उससे झाँकती हुई मोती-सी श्वेत मुख-छवि सभी मिलकर एक हो गये हैं और पृथक भी हैं। निम्नलिखित पंक्तियों में आम के बौरों तथा भौंरों के रङ्ग कितनी सूक्ष्मता से चित्रित किए हैं।

रुपहले सुनहले आम्र-बौर
नीले पीले, औ ताम्र-भौंर।

अथवा

विद्रुम औ मरकत की छाया,
सोने चाँदी का सूर्यातप
हिम परिमल की रेशमी वायु,
शत रत्न छाया, खग-चित्रित नभ॥

अथवा

गहरे धुँधले धुले सांवले
मेघों से मेरे भरे नयन।

उपर्युक्त उदाहरण रंगों के ही हैं। प्रकाश का भी पन्तजी की कविता में सम्यक् आभास मिलता है। वास्तव में स्वर्ण-रङ्ग का प्रकाश पन्तजी को बड़ा प्रिय है। 'सोने का गान' में आप लिखते हैं—

तुहिन बन में छाई सुकुमारि,
तुम्हारी स्वर्ण ज्वाल-सी तान।

× × × ×

उषा की कनक-मदिर मुस्कान।

अथवा—

प्रात का सोने का संसार
जला देती सन्ध्या की ज्वाल!

आपकी अनेकों कविताएँ इस प्रकाश से दीप्त हैं। इस प्रकार कवि को केवल कोमल ही नहीं वरन् भयानक काले रङ्गों का भी पूर्ण परिज्ञान है। उदाहरणार्थ—

रुधिर के हैं जगती के प्रात
चितानल के ये सायंकाल!

कवि के इस सूक्ष्म कौशल पर उदीयमान आलोचक पं० कृष्ण-शङ्कर शुक्ल ने बड़ा सुन्दर प्रकाश डाला है—यहीं तक नहीं कवि की दृष्टि से और भी सूक्ष्मता प्राप्त की है। अनेक पदार्थ दृश्य होते हैं पर हम उन्हें छू नहीं सकते, उदाहरण के लिए धूप तथा अन्धकार लिए जा सकते हैं, पर कल्पना के द्वारा हृदय पर पड़े हुए इनके प्रभाव को दृष्टि में रख कर इनके स्पर्श की विशेषता की भी कल्पना की जा सकती है। यह स्पर्श-ज्ञान साधारण ज्ञान से भिन्न है। गुलाबी रेशमी पत्थर यद्यपि छूने में कठोर होगा पर नेत्रों को वह मुलायम लगेगा। ऐसी ही भावना से प्रेरित होकर पन्तजी ने अनेक सुन्दर उद्भावनाएँ की हैं। नीचे की पंक्तियों में श्यामल तम को कोमल कहा गया है। यदि वह काला अन्धकार होता तो उसे कठोर विश्लेषण अवश्य प्राप्त हुआ होता। रङ्गों का सूक्ष्म परिज्ञान न रखने वालों को तो काले तथा श्यामल में कुछ भेद न प्रतीत होगा। पर सूक्ष्म-बुद्धि-सम्पन्न कवि इन ठोस भेदों ही की अनुभूति नहीं करता है, उसे तो श्याम तथा श्यामल में भी कुछ भेद प्रतीत होता है। श्याम कुछ गहरा तथा कठोर होगा।

श्यामल के लकार ने उसे उच्चारण माधुर्य के साथ-साथ स्पर्श की सुकुमारता भी प्रदान की है—

मृदु मृदु स्वप्नो से भर अञ्चल,
नव नील, नील, कोमल कोमल,
छाया तरुवन में तम श्यामल !

ध्वनि-चित्रण

भाव और भाषा के सामञ्जस्य एवं स्वरैक्य के द्वारा पन्तजी ध्वनि-चित्रण करने में भी परम पटु हैं। इसके लिए उन्होंने स्वर और व्यञ्जनों को बड़ी सूक्ष्म परीक्षा के बाद चुना है। ध्वनि-चित्रण में तो व्यञ्जनो का ही प्राधान्य रहता है, परन्तु जहाँ भावना की अभिव्यक्ति अथवा गति आदि की तस्वीर खींचनी होती है वहाँ पन्तजी स्वरों पर ही अधिक निर्भर रहते हैं—"इसका कारण यह है कि काव्य-सङ्गीत के मूल-तन्तु स्वर हैं न कि व्यञ्जन ! और भावना का रूप स्वरों के सम्मिश्रण एवं उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है।" इस प्रकार स्वर-सङ्गीत की रक्षा करके उसके सङ्कोच प्रसार को यथावकाश देकर वे राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा वाणी का सामञ्जस्य पूर्ण-रूपेण स्थापित कर देते हैं—

पावस-ऋतु थी पर्वत-प्रदेश
पल पल परिवर्तित प्रकृति-वेश
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग-सुमन फाड़
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार।

'पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश' में यदि लघु अक्षरों की आवृत्ति देशी बाइस्कोपों में घूमते हुए चित्रों की भाँति प्राकृतिक दृश्यों के परिवर्तन का आभास देती है, तो 'मेखलाकार पर्वत अपार' का 'आ' पर्वत के विस्तार का चित्र सम्मुख उपस्थित करता है। यही बात—

शशि की सी ये कलित-कलाएँ खेल रही हैं पुरपुर में

× × × ×

तड़ित-सा सुमुखि तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार उर चीर !

आदि उद्धरणों से स्पष्ट है। गति के अतिरिक्त ध्वनि का चित्रण भी कवि मे सर्वत्र मिलता है। उसको चित्र-राग का परिष्कृत ज्ञान है। 'विरह अहह कराहते इस शब्द को' में ह की आवृत्ति के कारण ऐसा प्रतीत होता है मानो प्रत्यक्ष ही कोई कराह रहा हो।

इसी प्रकार 'गरज गगन के गान गरज गम्भीर स्वरो में'—'घन घमण्ड नभ गर्जत घोरा' का आभास देता है।

पन्तजी के कान स्वर पहिचानने में कितने शिक्षित हैं इसका सम्यक् परिज्ञान निम्नाङ्कित पद से आप ही हो जाएगा।

पपीहों की वह पीन पुकार
निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुर-गम्भीर घहर।
विन्दुओं की छनती छनकार
दादुरों के वे दुहरे स्वर!

भयङ्कर शब्द सुनना हो तो परिवर्तन के 'वासुकि सहस्रफन' की "शत् शत् फेनोच्छवसित स्फीत फूत्कार भयङ्कर" सुनिए। वह अपना आख्यान आप ही है।

अप्रस्तुत योजना

आचार्य शुक्ल के शब्दों से "भावो का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओ के रूप, गुण और क्रिया का अधिक तीव्र अनुभव कराने में कभी कभी सहायक होने वाली युक्ति ही अलङ्कार है।" इसी को कवि इस प्रकार कहता है—"अलङ्कार केवल वाणी की सजावट के लिए ही नहीं वरन् भाव की अभिव्यक्ति के भी विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की पूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं; वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति-नीति हैं। पृथक स्थितियों के पृथक स्वरूप, भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न चित्र हैं...... वे वाणी के हास, अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव-भाव हैं।" तात्पर्य यह है कि अलङ्कार काव्य के लिए अनिवार्य न होते हुए भी आवश्यक है। प्राण न होते हुये भी शरीर के धर्म अवश्य हैं। यद्यपि इनका जीवन आरम्भ काल से ही अनेकों उत्थान-पतन देखता आया है परन्तु फिर भी उनका कभी सर्वथा बहिष्कार नहीं हो सका। हाँ, जब कभी उनका महत्त्व अनु-

चित रूप से बढ़ गया है तो भयङ्कर प्रतिवर्तन अवश्य हुए हैं। इसी सत्य के अनुसार रीतिकाल में जब 'भाषा की जाली केवल अलङ्कारों के चौखटे में ही फिट रखने के लिए चुनी जाने लगी और भावों की उदारता, शब्दों की कृपण-जड़ता में बँध कर सेनापति के दाता और सूम की तरह इकसार हो गई, तो आधुनिक युग अलङ्कारों के प्रति एक विद्रोह लेकर खड़ा हुआ, परन्तु काव्य-देश से उनका सर्वथा निष्कासन तो असम्भव था, हाँ उनकी पोजीशन अवश्य घटा दी गई और साथ ही आधुनिक विशेष-दण्ड-विधान के अनुसार उनको कुछ विदेशी शिक्षा-दीक्षा देकर संस्कृत करने का भी सफल प्रयत्न किया गया। पन्त की अलङ्कार-योजना में पश्चिमीय पॉलिश अधिक है—उनके ऊपर उद्धृत कथन में ही अभिव्यञ्जनावाद बोल रहा है, परन्तु भारतीय अलङ्कार शास्त्र के भी आप कम ऋणी नहीं हैं—विशेष कर सादृश्य-मूलक अलङ्कारों को तो आपने काफी अपनाया है। उपमा और रूपक पन्तजी की कविता में मणियों की भाँति चमकते हैं। छाया कविता तो समस्त उपमाओं की लड़ियों में ही गुँथी है। परन्तु ये उपमायें सभी नवीन हैं। उनमें परम्परा की गन्ध तनिक भी नहीं है। देखिए निम्न पंक्तियों में छाया को मूर्त-रूप देने के लिए कितनी सुन्दर अप्रस्तुत-योजना हुई है—

> तरुवर के छायानुवाद-सी
> उपमा-सी भावुकता-सी
> अविदित भावाकुल भाषा-सी
> कटी छँटी नवकविता-सी।

उपरोक्त 'मालोपमा' की पहली उपमा तो प्रस्तुत से गृहीत होने के कारण उसका स्वरूप स्पष्ट करती है। बाद की तीन उपमाएँ उनकी संकुलता का अनुभव कराती हैं। जैसा इन उपमाओं से स्पष्ट है हमारा कवि अमूर्त की व्यञ्जना के लिए मूर्त अप्रस्तुत का प्रयोग करता हो केवल यही बात नहीं, वह प्रायः प्रस्तुत मूर्त उपमानों का उपयोग भी करता है। निम्नलिखित विधान से यह स्पष्ट हो जायगा—

> धीरे धीरे संशय-से उठ
> बढ़ अपयश-से शीघ्र अछोर
> नभ के उर में उमड़ मोह से
> फैल लालसा-से निश-भोर

पन्तजी के उपमान भी प्रायः सभी रङ्गीन होते हैं। अस्तु!

खेंच ऐंचीला भ्रू सुर-चाप
शैल की सुधि यों बारम्बार,
हिला हरियाली का मृदुकूल
भुला झरनों का झलमल हार
जलद पट से दिखला मुखचन्द्र
पलक पल-पल चपला के मार
भग्न-उर पर भूधर-सा हाय!
सुमुखि! धर देती है साकार!

उक्त पद में शैल और उस पर विचरने वाली बालिका दोनों की सुधि को एक करके—पुनः हृदय पर भूधर रखवा कर पन्तजी ने रूपक का अपूर्व रूप खड़ा कर दिया है पन्तजी अपने 'अलङ्कार-विधान' में सर्वथा स्वतन्त्र रहते हैं—वे अलङ्कारों की कट्टर कवायद कभी नहीं करते। उनके बहुत से अप्रस्तुत विधान ऐसे हैं जो अलङ्कार शास्त्र के अनुसार किसी विशेष नाम के अधिकारी तो नहीं परन्तु उनमें सांगरूपक आदि बहुत से अलङ्कारों की सहायता रहती है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद लीजिए—

रूप का राशि-राशि वह रास?
दृगों की यमुना-श्याम,
तुम्हारे स्वर का वेणु विलास,
हृदय का वृन्दाधाम,
देवि! मथुरा का वह आमोद,
दैव! ब्रज अह! यह विरह-विषाद!
आह, वे दिन द्वापर की बात!
भूति! भारत को ज्ञात!!

अथवा गुञ्जन के नौका-विहार में गङ्गा का चित्र देखिये—

'तापस बाला गङ्गा निर्मल'

\+ \+ \+

तनिक उल्लेख का वैभव भी अवलोकन कीजिये—

विन्दु में थी तुम सिन्धु अनन्त,
एक सुर में समस्त सङ्गीत

एक कलिका में अखिल बसन्त,
धरा पर थी तुम स्वर्ग पुनीत।

नीचे का पद 'स्मरण' का रुचिर उदाहरण है—

देखता हूँ जब पतला
इन्द्र-धनुषी हलका
रेशमी घूँघट बादल का
खोलती है कुमुद-कला।
तुम्हारे मुख का ही तो ध्यान
मुझे तब करता अन्तर्धान!

वास्तव में इस 'स्मरण' को भाव न कहकर अलङ्कार कहना कवि की भावुकता की उपेक्षा करना है!

एक नमूना 'सन्देह' का भी द्रष्टव्य है—

निद्रा के उस अलसित वन में
वह क्या भावी की छाया,
दृग-पलकों में विचर रही, या
वन्य देवियों की माया!

'सन्देह' पन्तजी का प्रिय अलङ्कार है।

आधुनिक कविता के दो प्रमुख अलङ्कार हैं—समासोक्ति और अन्योक्ति। आजकल तथ्यों के सादृश्य-विधान के लिए प्राचीन दृष्टान्त आदि का प्रयोग न होकर अन्योक्ति पद्धति का ही अनुसरण किया जाता है। समासोक्ति के न जाने कितने रम्य उदाहरण पन्तजी की कृतियों में मिलेंगे। चाँदनी के लिए आप कहते हैं—

नीले नभ के शत दल पर
वह बैठी शारद—हासिनि!
मृदु करतल पर शशि-मुखधर
नीरव अनिमिष एकाकिनि!

एक व्यंग्य रूपक का सौन्दर्य देखिए—ग्रन्थि में कुसुमशराहता नायिका पर सखियाँ कैसी मीठी फबती कसती हैं—

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
पङ्ख फड़काना नहीं ये जानते,
उर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी।

दो एक उदाहरण चमत्कार-मूलक अलङ्कारों के देख इस प्रसङ्ग को समाप्त किया जायगा। नीचे के पद में सहोक्ति और यथासंख्य की सुन्दर योजना हुई है:—

(१) निज पलक, मेरी विकलता साथ ही,
अवनि से, उर से, मृगेक्षणि ने उठा।

× × ×

(२) विश्वानुरक्त! हे अनासक्त!
सर्वस्व त्याग को बना मुक्ति!

में विरोध का भाव-पूर्ण प्रयोग है। हे नग्न! नग्न पशुता ढँकदी' में परिकर की छटा दर्शनीय है।

यह तो हुई प्राच्य अलङ्कारों की बात! अब थोड़ा-सा पाश्चात्य ढङ्ग की अप्रस्तुत-योजना का विवेचन करना असङ्गत न होगा। पन्तजी ने अँगरेजी और बङ्गला का अच्छा अध्ययन किया है, अतः स्वभावतः उनकी शैली पर पाश्चात्य प्रभाव बहुत पड़ा है। विदेश में लक्षणा आदिक शब्द-शक्तियों का विवेचन नहीं है, हाँ उन पर आश्रित अलङ्कारों को विशेष महत्त्व दिया गया है। अँगरेजी के अलङ्कार-शास्त्र में लक्षणा मूलक अलङ्कारों का प्राधान्य है। अपने यहाँ लक्षणा का दूसरे प्रकार से ही विवेचन होने के कारण, इन अलङ्कारो का नाम-करण नहीं हो सका। पश्चिम के विशेषण-विपर्यय और मानवीकरण ये दो अलङ्कार पन्तजी क्या सभी आधुनिक कवियों ने विशेष मनो-निवेश के साथ अपनाए हैं। इनमें पहिला भाषा की लक्षणा शक्ति का और दूसरा उसकी मूर्त्तिमत्ता का फल है। लक्षणा में प्रायः एक चम-त्कार और कुछ वक्रता का आभास रहता है। विशेषण-विपर्यय प्रयो-जनवती लक्षणा पर आधृत है। विशेषण-विपर्यय के दो एक उदाहरण देखिए—

ऐ स्वप्नों के नीरव-चुम्बन!

× × ×

मूक-व्यथा का मुखर भुलाव!

× × ×

औ जिनकी अबोध पावनता
थी जग के मङ्गल का द्वार! —आदि

'मूक व्यथा का मुखर-भुलाव' चरण में व्यथा नहीं वरन् व्यथित व्यक्ति ही मूक है, उधर भुलाव मुखर नहीं, भूलने वाला है। इस प्रकार समस्त पंक्ति में दुहरा विपर्यय किया गया है, साथ ही अगोचर को गोचर रूप भी दिया गया है।

मानवी-करण के सफल प्रयोग भी कम नहीं हैं—ग्रन्थि में प्रेम के प्रति कवि उक्ति सुनिए—

पर नहीं तुम चपल हो, अज्ञान हो
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं।

स्वप्नों को मूर्तरूप देता हुआ कवि लिखता है—

विश्व के पलकों पर सुकुमार।
विचरते थे जब स्वप्न अजान!

अथवा

अतल से उठ उठ हो हो लीन
खो रहे बन्धन गीत उदार।

इसी प्रकार मैटोनिमी आदि बहुत से अन्य विदेशी अलंकार भी पन्तजी की कविता में यत्र-तत्र मिलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि पन्तजी का अलंकार-भण्डार बड़ा भरा-पूरा है जिससे उनके भाषा की शक्तियों पर विस्तृत अधिकार का परिचय मिलता है। यद्यपि वे अन्य आधुनिक कवियों की अपेक्षा कुछ अधिक अलंकार-प्रिय हैं, फिर भी उनकी समस्त अलंकार-साधना भावों की ही सजावट के लिए है। अप्सरा जैसी एकाध कविता ही भूषण-भार से दब कर गति-हीन हो गई है। हमारे भावुक कवि की सृजन-शील प्रतिभा दूसरे के झूठे उपादानों से ही सन्तुष्ट नहीं रही, उसने मौलिक नवीनता की भी सृष्टि की है। यह सृष्टि प्राचीन कलेवर में नवीन रूप-रङ्ग भर देने से हुई है यथा—'चाँदी का चुम्बन कर चूर!' में चाँदी-सा के स्थान पर चाँदी का चुम्बन कहने में कितनी सुन्दर व्यञ्जना है। वास्तव में पन्तजी की अलङ्कारिक प्रतिभा मौलिक है, रचनात्मक है।

यह सब कुछ होते हुए भी पन्तजी अलंकारों की सहायता के विना भी कहीं-कहीं बड़ी भव्य भाव-व्यञ्जना करने में समर्थ होते हैं—'वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल-घर' में बालिका के

अबोध भोलेपन की कितनी सूक्ष्म व्यञ्जना की गई है। इस प्रकार पन्तजी में थोड़े में बहुत कहने की कला के भी दर्शन होते हैं और वे अलङ्कार-प्रिय होते हुए भी उन पर निर्भर नहीं रहते।

छन्द

स्वयं कवि के शब्दों में, कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है। "कविता हमारे प्राणों का सङ्गीत है, छन्द हृत्कम्पन कविता का स्वभाव ही छन्द मे लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बन्धन से धारा की गति को सुरक्षित रखते है, जिनके विना वह अपनी ही बन्धन-हीनता में प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन-कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल, सजल, कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं।" यही नहीं वे जीवन और छन्द का अभिन्न सम्बन्ध मानते हैं। कवि की छन्द योजना से पता लगता है कि छन्द को अपनी उँगलियों पर नचाने से पूर्व उसे स्वयं छन्दों के संकेतों पर नाचना पड़ा है। पल्लव की भूमिका में उन्होंने स्वयं ही अपनी इस कला की ओर संकेत किया है। उन्होंने मात्रिक और वर्णिक छन्दो में से केवल मात्रिक छन्द ही चुने हैं क्योंकि वे कहते हैं कि हिन्दी के शब्द-विन्यास की प्रकृति स्वरों से अधिक निर्मित है। अतः उसके राग और सङ्गीत की रक्षा मात्रिक छन्दो में ही हो सकती है। जो कार्य भाव-जगत में इनकी कल्पना करती हैं, वही शब्द-जगत में राग। हिन्दी के प्रचलित छन्दों में पीयूषवर्षण, रूपमाला, सखी, रोला, पद्धटिका, चौपाई आदि ही कवि को अच्छे लगते हैं। प्राचीन एक-स्वरता (monotony) को बचाने के लिए उन्होंने उनमें बहुत से सुधार और परिवर्तन भी किये हैं। अँगरेजी छन्द-योजना के अनुकरण पर, पन्तजी ने कविवर निराला के साथ, मुक्त छन्द का भी आविष्कार किया है। ग्रन्थि में आपने 'run-on lines' का प्रयोग किया है—

> और भोले प्रेम! क्या तुम हो बने—
> वेदना के विकल हाथो से जहाँ—
> झूमते गज से विचरते हो वहीं—
> आह है, उन्माद है, उत्ताप है।

भावों की गति के अनुसार ही इनका छन्द चलता है—अथवा यों कहिए कि भाव स्वयं ही अपने अनुकूल छन्द मे फूट उठता है। उदाहरणार्थ परिवर्तन में जहाँ भावना का क्रिया-कम्पन तथा उत्थान-पतन अधिक है, कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती है, वहाँ रोला आया है, अन्यत्र १६ मात्रा का छन्द। बीच-बीच मे छन्द की एक-स्वरता तोड़ने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा-बढ़ा दिये गए हैं। यथा—

विश्वमय हे परिवर्तन !
अतल से उमड़ अकूल, अपार
मेघ से विपुलाकार,
दिशावधि में पल विविध प्रकार
अतल में मिलते तुम अविकार !

अहे अनिर्वचनीय ! रूप धर, भव्य, भयंकर,
इन्द्रजाल सा तुम अनन्त में रचते सुन्दर,
गरज गरज, हँस हँस, चढ़ गिर, छा ढा भू-अम्बर
करते जगती को अजस्र जीवन से उर्वर;
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप धर
अहे तुम्हारी भीम-भृकुटि पर
अटका निर्भर !

उपरोक्त पद में पहिले चरण से तीन मात्राएँ घटाकर एक विराम दिया गया है जो सम्बोधन के लिए आवश्यक है—उधर तीसरे में फिर चार मात्राएँ कम की गयी हैं जिससे भ्रान्ति और निराशा की भावना द्योतित होती है। आगे रोला छन्द ऊपर लिखे नियमानुसार है। पन्तजी ने ये परिवर्तन अंग्रेजी ओड (Ode) से प्रभावित होकर किये हैं, इसी कारण उसमें सम्बोधनों की अधिकता है।

आपने छन्द में भी चित्रोपमता लाने का प्रयत्न किया है।

नवोढ़ा बाल लहर
प्रसूनों के ढिंग रुक कर
सरकती है सत्वर।

गुञ्जन में आकर पन्तजी ने अधिक संयम से काम लिया है

और छन्दों में अधिक उलट फेर नहीं किया है। उसमें अनुक्रम (Symmetry) का विशेष ध्यान रखा गया है। गुञ्जन के छन्दों में भाषा की विशेष कोमलता के कारण एक रुन-झुन मिलती है जो ज्योत्स्ना के नाट्य-गीतों में एक विशेष लय और ताल से सञ्चालित होती है। ज्योत्स्ना में कवि ने नृत्य के साहचर्य के अनुकूल गीत रचना की है, उसमें नाटकीय कौशल दृष्टिगत होता है।

सरल चटुल, विमल विपुल,
हिम-शिशु हुलसाये।

अथवा— कुन्द-धवल, तुहिन तरल,
तारा-दल ए—

लघु अक्षरों की आवृत्ति भावाभिव्यक्ति के अनुरूप होने के अतिरिक्त सङ्गीत में भी एक विशेष स्थान रखती है।

युगान्त में आकर कवि की कला में मांसलता आगयी है—अत: उसके छन्दों में गुञ्जन या ज्योत्स्ना के गीतों की सी विह्वलन नहीं है—उसमें पुरुष-सङ्गीत है।

वास्तव में पन्त की छन्द-योजना विशद है। उनके प्रत्येक छन्द में राग की एक धारा अनिवार्य रूप से व्याप्त मिलती है—कहीं भी शब्दों की कड़ियाँ अलग-अलग असम्बद्ध नहीं दिखाई पड़तीं—उनकी दरारें लय से भर कर एकाकार कर दी गयी है। सारांश यह है कि उनमें पूर्ण सामञ्जस्य है। 'जिस प्रकार जलौध पहाड़ से निर्झर-नाद में उतरता, चढ़ाव में मन्द गति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता छाँटता, अपने लिए ऋजु-कुञ्चित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान पतन के अनुरूप संकुचित प्रसारित होता सरल-तरल ह्रस्व-दीर्घ गति बदलता रहता है।

अन्त में पन्तजी सुन्दर कलाकार हैं, उनकी कला रङ्गीन है—चटकीली! प्रारम्भ से ही उसमें एक स्वस्थ विकास दृष्टिगोचर होता है। वीणा में कवि की शिशु कविताएँ हैं, उनमें सर्वत्र एक भोलापन मिलता है। आगे चलकर ग्रन्थि में जो कला शब्द-बाहुल्य से कुछ श्लथ प्रतीत होती थी. पल्लव में आकर वह स्वभावतः कोमलकान्त हो

गयी फिर भी उसमें अवसर के अनुकूल माधुर्य और ओज, तारल्य और गाम्भीर्य पाया जाता है। गुञ्जन में कवि की मनन प्रवृत्ति का अत्यधिक विकास हो जाने से वही संयत एवं सुख-सरल हो गयी और ज्योत्स्ना में जाकर तितली के सदृश उड़ने लगी। युगान्त में, उसमें मांसलता आयी—महाप्राणता का विकास हुआ। उसकी रेखाएँ अब प्रौढ़ और पुष्ट हैं—उसमे पुंसत्व आ गया है। अभी वह प्रगतिशील है—विकासोन्मुख है।

पन्तजी की प्रारम्भिक वीणा-सीरिज की कविताओं पर रवीन्द्र-नाथ का प्रभाव स्पष्ट है। उनके चित्ररेखाकार—श्री दीनानाथ पन्त के अनुसार रवीन्द्र तथा सरोजिनी नायडू की कविताओं से उनके भीतर एक प्रकार के अस्पष्ट सौन्दर्य-बोध तथा माधुर्य का जन्म हुआ। इसी समय जब वे काशी में पढ़ते थे उन्होंने बङ्गला का भी थोड़ा-बहुत अध्ययन किया और चयनिका तथा गीताञ्जलि की कविताओं का रस लिया। 'मम जीवन का प्रमुदित प्रात' गीत पर रवि बाबू के 'अन्तर मम विकसित कर' की छाया है। इन सभी गीतियों पर गीताञ्जलि प्रार्थना-परक कविताओं का प्रभाव प्रत्येक पाठक को एक बार पढ़ने पर ही विदित हो जायगा। निराला की भाँति इधर-उधर से पंक्तियाँ एकत्रित कर उनकी आलोचना करने का तो कोई अर्थ नहीं। उनके अन्तर्वाह्य, शैली और भावों में गीताञ्जलि की ध्वनि है ही परन्तु साथ ही उदीयमान कवि का अपना तुतला व्यक्तित्व भी उनमें मिलेगा। और भी कुछ विशेष कविताओं में रवीन्द्र की प्रेरणा है जैसे 'अप्सरा' में 'उर्वशी' की कुछ पंक्तियों की प्रतिध्वनि भी स्पष्ट है। उदाहरणार्थः—

द्विधाय जड़ित-पदे, कम्पवक्षे, नम्र नेत्र-पाते
मनहास्ये नाहि चल, सबजित वासर शय्याते
स्तब्धराते। (उर्वशी)

× × ×

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात
विकम्पित उर मृदु, पुलकित गात,
सशङ्कित ज्योत्स्ना-सी चुपचाप
जड़ित-पद नमित पलक दृग पात
पास जब आ न सकोगी प्राण!
(भावी पत्नी के प्रति)

तरङ्गित महासिन्धु मन्त्र-श्रान्त, भुजङ्गेर-मत
पड़ेछिल पद-प्रान्ते, उच्छ्वसित फणलक्ष शत करि अवनता
(उर्वशी)

× × ×

अहे वासुकि सहस्रफन!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर

छोड़ रहे हैं जग के, विक्षत वक्षस्थल पर
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयङ्कर।

कहने की आवश्यकता नहीं कि दोनों उद्धरणों में पन्तजी ने अधिक प्रकाश और जीवन फूँक दिया है—पहले में 'ज्योत्स्ना सी चुपचाप' के द्वारा और दूसरे में 'शत-शत फेनोच्छ्वसित' की 'स्फीत फूत्कार से'। इधर कवीन्द्र के 'चम्पक का गीत', 'सौन्दर्य का गीत' आदि गीतों से ही ज्योत्स्ना के प्रतीकात्मक गीतों को कदाचित प्रेरणा मिली हो।

ग्रन्थि में विशेषकर, साथ ही अन्यत्र भी, संस्कृत कवियों का प्रभाव है। ग्रन्थि के प्रणयन-काल के आस-पास कवि संस्कृत का अध्ययन कर रहा था, इसी कारण वीणा की अपेक्षा ग्रन्थि में तत्समता का आधिक्य है और अलङ्कारों का ऐसा प्रयोग भी पन्त में अन्यत्र नहीं मिलेगा। ग्रन्थि के विरह-विलाप की शैली रघुवंश के अज-विलाप से समानता रखती है। पन्तजी की चित्रण-सामग्री पर विशेष कर उनकी चटकीली वर्णयोजना पर कालिदास का प्रभाव है। एक आध स्थान पर उनकी ऐको भी स्पष्ट है। उदाहरणार्थ शाकुन्तलम् के सप्तम अङ्क में यान के उतरने का दृश्य ज्योत्स्ना के तृतीय अङ्क के सदृश दृश्य से पूर्ण साम्य रखता है—

शैलानामवरोहतीव शिखरादुन्मज्जतां मेदिनी
पर्णाभ्यन्तरलीनतां विजहति स्कन्धोदयात्पादपाः
संतानैस्तनुभावनष्ट सलिला व्यक्ति भजन्त्यापगाः
केनाप्युत्क्षिपतेव पश्य भुवनं मत्पार्श्वमानीयते!

—शाकुन्तलम् (अङ्क ७, श्लोक ८)

ज्योत्स्ना देख रही हूँ दूर से, शून्य दिगन्त में घूमती हुई जो पृथ्वी गोल लट्टू के समान छोटी जान पड़ती थी, और नीचे उतरने पर जो भूमि-रेखा समुद्र के उच्छ्वसित वक्ष में मुँह छिपाए स्तनपान करते हुए शिशु सी लगती थी, वही पास पहुँचने पर, उच्च हिम-किरीट से शोभित सरिताओं के चञ्चल मुक्ताहारों से मण्डित शस्यश्यामल अञ्चला, अनन्त सन्तप्त प्राणियों की पुण्य धात्री अचला के रूप में बदल गई है............। बीच-बीच में लम्बे, पतले, साँपों की तरह बल खाए, टेढ़े-मेढ़े, वे शायद रास्ते हैं। (ज्योत्स्ना, अङ्क ३)

उक्त उद्धरण में क्या हमारे कवि ने महाकवि के ऋण को ब्याज समेत नहीं चुका दिया ? रसिक-समाज निर्णय करेगा ।

जिन दिनों पन्तजी प्रयाग विश्व-विद्यालय में पढ़ रहे थे, वहाँ के अँगरेजी वातावरण ने उनको पश्चिमी कवियों की ओर आकृष्ट किया । अब पन्तजी पर रोमाण्टिक कवि शैली, कीट्स और विक्टोरियन टैनीसन का प्रभाव स्पष्ट रूप में पड़ा । उन पर सबसे अधिक ऋण कविवर शैली का है—भारत के अन्य कवियों पर भी—जैसे डा० टैगोर, देवी सरोजनी, श्रीमती वर्मा आदि पर उनका प्रभाव सर्वाधिक पड़ा क्योंकि उसका आदर्शवाद और रङ्गीन कल्पना भारतीय हृदय के अनुकूल है । पन्तजी मे प्रारम्भ से ही एक प्लैटोनिज्म के दर्शन होते है, जो गुञ्जन, ज्योत्स्ना और पाँच कहानियों में आकर अधिक परिपुष्ट हो गया है । यह प्लैटोनिज्म अगर मैं भूल नहीं करता, उनको शैली से ही प्राप्त हुआ है । कल्पना और स्वप्न की सहायता से एक आदर्श साम्राज्य-स्थापन की भावना जिसमें स्नेह, सौन्दर्य और सहानुभूति का प्रचार एवं प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक और जीवन का नवीन आदर्श होगा, शैली की आदर्श-भावना (Idealism) से पूर्णतया मिलता है । शैली ने भी अपने 'प्रोमीथियस अनबाउन्ड' में एक ऐसे जीवन का सन्देश दिया है जिसमे मानवता की मुक्ति, भ्रातृत्व, प्रेम, समानता, स्वतन्त्रता, आध्यात्मिक पवित्रता एवं रूढ़ि मुक्तता का प्रचार होगा । यह संसार एकान्त सुन्दर और मानव के अनुकूल होगा । फिर भी शैली और पन्त दो व्यक्ति हैं, शैली का सा आवेश पन्तजी में कहाँ, साथ ही पन्तजी का सा चिन्तन और शान्ति शैली में अप्राप्य है । कला की दृष्टि से, पन्तजी की रङ्गीन कला और सस्वर ढुलकते हुए पदों में शैली के शिष्यत्व का आभास मिलता है । इसके अतिरिक्त कुछ कविताओं पर शैली का स्पष्ट प्रभाव है—पन्तजी के 'बादल' को शैली के (Clund) से प्रेरणा मिली है । उन दोनों की प्रथम पुरुष वाली शैली, प्रवाह और कहीं-कहीं भाव और शब्दावली भी एकसी है फिर भी पन्तजी ने 'बादल' शैली के (Cloud) के विरुद्ध ही अपना दृष्टिकोण रखा है - अर्थात् - शैली का बादल स्वर्ण और रजत-रश्मियों से, सूर्य और चन्द्रमा से खेलने

वाला बादल है। उनकी चित्र-सामग्री भी सभी रम्य है; परन्तु पन्तजी ने बादल का धूमधुआँरा रूप अधिक ग्रहण किया है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि शैली ने उसका 'विकट महा आकार' नहीं अपनाया है अथवा पन्तजी ने बादल के कोमल स्वरूप का सर्वथा बहिष्कार किया है, परन्तु विशेषता एक में कोमल स्वरूप की और दूसरे में भयङ्कर की है—कुछ समान पंक्तियाँ देखिए—

While I sleep in the arms of blast.

जगत्-प्राण के भी रुहचर!

The Sanguine sun-rise with his meteor eyes
And his burning plumes outspread

उदयाचल से बाल हंस फिर उड़ता अम्बर में अवदात
फैल स्वर्ण पङ्खों से हम भी ''...........................

While I widen the rent in my wind-built tent

कभी हवा में महल बनाकर
सेतु बाँध कर कभी अपार।

चील, गृद्ध, मधु गृह आदि की चित्र-सामग्री (Imagery) दोनों में एक सी है। फिर भी हमारे कवि की कविता सर्वथा मौलिक है। ऊपर दिए उद्धरणों से पूर्णतया स्पष्ट है कि उन्होंने प्राप्त सामग्री को सर्वथा स्वतन्त्र रूप दे दिया है—पहिले में जगत-प्राण ने भाव को ही बदल दिया है, दूसरे में बाल हंस की कल्पना ने मौलिकता ला दी है और तीसरे में सेतु बाँधने का नवीन आयोजन है। शैली के पद कुछ बड़े होने के कारण उसके चित्र कुछ अधिक पूर्ण हैं परन्तु पन्तजी के पदों में गति का जितना सुन्दर चित्रण है उतना शैली के क्लाउड में नहीं। इसके अतिरिक्त कुछ पंक्तियों में शैली के अध्ययन की प्रतिध्वनियाँ भी मिल जाती हैं।

Spouse, sister, angle, pilot of the Fate!

(Epipsychidon)

देवि, मा, सहचरि, प्राण!

उपरोक्त पंक्ति को सम्भवतः प्रेरणा तो प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक से मिली है परन्तु इन विशेषणों को एक पंक्ति में जड़ देना कदाचित शैली से सीखा गया है।

All the earth and air,
With thy voice is loud (Skylark)

मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीर्ण जग का विषण्ण उद्यान ।

Teach me half the gladness.
That the brain must know,
Such harmonious madness
From my lips would flow.

सिखादो ना हे मधुप कुमारि।
मुझे भी अपना मीठा गान ।

उक्त पंक्तियों में 'टोन' का ही साम्य है ।

× × × ×

Unfathomable sea ! whose waves are years.
Ocean of time whose waters of deep woe
Are blackish with sat of human tears !
Thou shoreless flood, which in the ebb and flow
Claspest the limits or mortality
And sick of prey, yet howling on for more.
Vomitest the wrecks on its inhospitable shore,
Treacherous in calm and terrible in storm.
Who shall put forth on thee
Unfathomable sea !

अहे महाम्बुधि ! लहरों से शत लोक चराचर,
क्रीड़ा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर;
तुङ्ग-तरङ्गों से शत युग, शत शत कल्पान्तर,
उगल महोदर में विलीन करते तुम सत्वर;
शत सहस्र रवि-शशि, असंख्य ग्रह, उपग्रह उडुगण,
जलते बुझते हैं स्फुलिङ्ग से, तम में तत्क्षण;
अचिर विश्व में अखिल, दिशावधि, कर्म, वचन, मन ।
तुम्हीं चिरंतन
अहे विवर्तनहीन विवर्तन !

ऊपर दिये हुए उदाहरणों से कवि की प्रतिभा अथवा मौलिकता पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। वे सब अध्ययन द्वारा पड़े हुए संस्कार ही हैं। साथ ही पन्तजी ने कहीं भी भाव को बिगाड़ा नहीं है—उनकी तूली के स्पर्श से वह अधिकतर चमक ही उठा है। पन्तजी में भारतीयता का अभाव कहीं नहीं मिलता। उनके बादल में भारतीय काले बादल का ही चित्र है विदेश के (Hoary cloud) का नहीं।

पन्तजी के कुछ ऐन्द्रिय चित्रों पर कीट्स की छाया है। परन्तु इस कवि से उनका कोई विशेष साम्य नहीं। कीट्स सर्वथा ऐन्द्रिय सौन्दर्य में विश्वास रखने वाला कवि था जिसका पन्तजी के आदर्श-लोक से कोई सम्बन्ध नहीं। वह तो अपने देश काल से सर्वथा विरक्त था और अपनी सौन्दर्य-पिपासा शान्त करने के लिये सुवर्ण के देश (Realms of gold) में चला जाया करता था। ज्योत्स्ना के 'ज्योत्स्ना', 'इन्दु' के चित्रों में तथा 'भावी पत्नी के प्रति' कविता आदि में कीट्स की कला की मादकता मिल जाती है।

पल्लव के बाद की कविताओं में टेनीसन की स्वर-साधना का प्रभाव अधिक स्फुट-सा प्रतीत होने लगता है। पन्तजी के 'नौका-बिहार' में टेनीसन की सी घुलती हुई स्वर-मिश्री माधुर्य है साथ ही उनमें विक्टोरियन युग के इस मस्तिष्क-प्रधान कवि का सा ठण्डापन (chill) भी मिलता है, 'युगान्त' की 'गा कोकिल बरसा पावक कण !' कविता में (In memoriam) की प्रतिध्वनि भी सुन पड़ती है, सुनिए—

Ring out the old, Ring in the new.

× × × ×

नष्ट-भ्रष्ट है जीर्ण पुरातन !

Ring out............cause.
And ancient forms of party strife.

× × × ×

Ring out the false pride in place and blood,
The civic slander and the spite.

× × × ×

झरें जाति-कुल-वर्ण-पर्ण घन,
अन्ध-नीड़ से रूढ़ि-रीति छन,
व्यक्ति-राष्ट्र-गत रागद्वेष रण,
झरें मरे विस्मृति में तत्क्षण !

इसके अतिरिक्त एक-आध स्थान पर वर्ड्स-वर्थ का भी प्रभाव कदाचित् मिल जाये।

कौन तुम गूढ़ गहन अज्ञात !

Thou best philosopher, seer blest !

आगे— खेलती अधरों पर मुस्कान,
पूर्व सुधि—सी अम्लान ।

में 'इनेमनैसिस'—पूर्व-जन्म-सिद्धान्त का स्वर स्पष्ट है।

अन्त में, जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ, यह कवि चिन्तनशील एवं अध्ययन प्रिय है। उसने भिन्न-भिन्न साहित्यों का चर्वण किया है—उसी के संस्कार-स्वरूप कुछ प्रतिध्वनियाँ उसकी कविता में मिल सकती हैं। परन्तु वे किसी प्रकार उसके निर्मल कवि-यश पर धब्बा नहीं लगा सकतीं। क्योंकि जैसा कि मैं संकेत करता हूँ वह किसी से पीछे नहीं पिछड़ा, यदि भाव कहीं से उठाया भी है तो उसे अपनी बहुरङ्गी कल्पना से अधिक चित्रमय ही नहीं कर दिया वरन् अपना भी बना डाला है। साथ ही यह भी निश्चित् रूप से नहीं कहा जा सकता कि उसकी कौन-सी कविता पर किसी अन्य कृति-विशेष की छाप पड़ी है, ऊपर जो कुछ लिखा है अनुमान द्वारा ही। वास्तव में यह पूर्णरूप से जानते हुए भी कि खाया हुआ भोजन शरीर में रक्त, मांस आदि तत्त्वों में परिणत अवश्य हो जाता है, इस बात को कोई भी एकान्त निश्चय के साथ नहीं कह सकता कि भोजन के किस तत्त्व का क्या बना ! अस्तु ।

कृतियों का एक अध्ययन

कवि की विशेषताओं का थोड़ा बहुत परिचय देने के उपरान्त उसके ग्रंथों की एक समालोचना उपस्थित करना अनुचित न होगा। वास्तव में उसकी प्रतिभा के विकास का अध्ययन करने का यही एक मात्र उपाय है। हमारे इस अमर कलाकार ने किस प्रकार सर्वप्रथम वीणावादिनी के चरणों में बैठ कर वीणा उठाई और अब किस प्रकार आकर युगान्त कर दिया, यह जानने के लिए हमें वीणा से युगान्त तक उसकी सभी कृतियों पर दृष्टिपात करना अनिवार्य होगा।

कवि के चित्ररेखाकार श्री दीनानाथ पन्त के अनुसार, जब वे दशवीं कक्षा में पढ़ते थे तभी से उन्होंने कविता लिखना प्रारम्भ कर दिया था—उस समय के हस्तलिखित सुधाकर एवं हिमालय, अलमोड़ा अखबार, मर्यादा आदि में देखने को मिल सकती हैं। इनमें पन्तजी की भावी कला का आभास स्पष्टतया मिलता है और इस कारण वे अवश्य अपना विशेष मूल्य रखतीं परन्तु पन्तजी ने उन सभी को नष्ट कर दिया। इनसे पूर्व वे 'हार' नामक एक उपन्यास लिख चुके थे जिसकी पाण्डु लिपि नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। अस्तु, उनकी सर्व प्रथम कृति जो प्रकाशित रूप में मिलती है 'वीणा' ही है, यद्यपि यह पल्लव के उपरान्त सन् १९२७ में निकली थी।

वीणा

वीणा, जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है, उसका दुधमुँहा प्रयास है। 'इस संग्रह में दो एक को छोड़ अधिकांश रचनाएँ सन् १९-१८ की लिखी हुई हैं। उस कवि जीवन के नव-प्रभात में नवोढ़ा कविता की मधुर नूपुर-ध्वनि तथा अनिवर्चनीय-सौन्दर्य से एक साथ ही आकृष्ट हो, मेरा मन्द कवियश' प्रार्थी निर्बोध, लज्जाभीरु कवि वीणावादिनी के चरणों के पास बैठ, स्वर साधन करते समय, अपनी आकुल उत्सुक हृत्तन्त्री से, बार-बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त

असमर्थ अँगुलियों के उलटे सीधे आघातों-द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट झङ्कारें जागृत कर सका है, वे इस वीणा के स्वरूप में आपके सम्मुख उपस्थित हैं ।'

इन कविताओं में पन्तजी का बाल-कवि उड़ने के लिए पङ्ख फड़फड़ा रहा है । ये प्रारम्भिक कविताएँ गीताञ्जलि से प्रभावित होने के कारण अधिकांश में प्रार्थना-परक हैं । कहीं भीरु-चरण कवि वीणावादिनी से गीत सिखाने की प्रार्थना करता है तो कहीं विश्वात्मा माता से ज्ञान बल और भाव प्रदान करने की विनय करता है—

मेरे उज्ज्वल मानस पर—
पादपद्म विकसा सुन्दर,
बजा मधुर वीणा-निज मात !
एक गान कर मम अन्तर ।

इसके अतिरिक्त बहुत सी कविताओं में कवि आत्मोत्सर्ग की कामना करता हुआ बड़ी सुन्दर और भावमय मिन्नतें करता है—

तुहिन-बिन्दु बनकर सुन्दर
कुमुद किरण से सहज उतर
माँ, तेरे प्रिय पद-पद्मों में
अर्पण जीवन को कर दूँ ।

इन प्रार्थना-परक कविताओं में इस प्रकार के गीत ही सबसे अधिक कोमल एवं भाव-समन्वित हैं । बालिका के रूप में नवोढ़ कवि प्रकृति की विभूतियों को देख कर उन पर मुग्ध हो जाता है और उनमें पूर्णरूपेण घुल-मिल जाने के लिए आतुर हो उठता है । यह आतुरता इतनी बढ़ती है कि कवि अपना अस्तित्व ही उन पर निछावर करने को व्यग्र हो जाता है । इन सभी कृतियों में कवि के विश्व प्रेम की झलक है—वह संसार के लिए अपना उत्सर्ग करने को उत्सुक है—

कुमुद-कला बन कल-हासिन
अमृत-प्रकाशिनि नभ वासिन,
तेरी आभा को पाकर मा !
जग का तिमिर-त्रास हर दूँ ।

कुछ कविताओं में यह भावना और भी गम्भीर हो जाती है और हमें कुछ रहस्यात्मक रचनाओं के भी दर्शन मिलते हैं। पन्तजी का अबोध भावुक कवि विश्व की रचना देख कर मूढ़ हो जाता है, उसके हृदय में अगणित प्रश्न उठते हैं। वह समस्त विश्व में एक प्रकार की आकुलता पाता है और उसकी खोज में स्वयं आकुल हो उठता है। गहन अन्धकार में भी उड़ते हुए जुगुनू को देख कर कवि पूछता है—

इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्योत !

और कभी प्राकृतिक विधानों में उस चिर-लुप्त प्रियतम को पाकर उसकी ओर बढ़ने का निष्फल-प्रयास करने लगता है—

हुआ था जब सन्ध्या-आलोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम-ओर
विहग-रव बनकर मैं चितचोर।
गारहा था गुण, किन्तु, कठोर !
रहे तुम नहीं वहाँ भी, शोक !
निठुर, यह भी कैसा अभिमान !

ऐसी कविताओं में कहीं-कहीं दार्शनिक भावनाओं का भी पुट लगा होता है—

तब तो यह भारी अन्तर
एक मेल में मिला हुआ था
एक ज्योति बनकर सुन्दर
तू उमङ्ग थी मैं उत्पात !

× × ×

"वैसे ही तेरा संसार—
अति अगर यह पारावार
नहीं खोलता है मा ! अपने
अद्भुत-रत्नों का भण्डार;
प्रत्युत, अपने ही शृङ्गार
(तुलसी-माला या मणिहार)

या! प्रतिबिम्बित होकर इसमें
दिखलाई देते निस्सार!
चला प्रेम की दृढ़ पतवार,
इसके जल की हिला अपार
दिखलाई देती तब इसकी
विश्व-मूर्ति अति सदय उदार!

नीचे की पंक्तियों में माया का कितना विशद वर्णन है—

उस छवि के मञ्जुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मन में दुख पाता है!
बालू का प्रति कण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार,
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण-सरित की धार!

एक झलक प्रतिबिम्बवाद की भी देखकर इस विषय को समाप्त किया जाता है।

मा! वह दिन कब आयेगा जब
मैं तेरी छवि देखूँगा,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पड़ा है
जग के निर्मल दर्पन में।

कहने की आवश्यकता नहीं कि वीणा की ये सभी कविताएँ वास्तविक रूप में दर्शन-प्रधान नहीं हैं। कवि किसी विशेष फिलासफी को अपना भी नहीं सका है।

इन दार्शनिक कृतियों का महत्त्व होने पर भी वास्तव में जो कविताएँ 'वीणा' की प्राण स्वरूपा हैं वे सभी भावना-प्रधान हैं। पन्तजी की भावुकता की सबसे बड़ी विशेषता है उसका मार्दव। जैसा कि पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है हमारा कवि मानव-हृदय की उर्मिल प्रवृत्तियों को ही गुदगुदाने में परम पटु है। वीणा में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है। उसमें सर्वत्र ही मानव जगत का, अथवा प्राकृतिक

विश्व के द्वारा कवि के अस्फुट हृदय पर पड़े हुए झिलमिल प्रतिबिम्बों का ही चित्रण विशेष है। ऐसी कविताएँ छाया, अन्धकार, किरण, सरिता प्रथम रश्मि का आना, चातक, माँ आदि हैं। इन समस्त कविताओं में भावना का एक कोमल तार गुम्फित है—कवि की सूक्ष्म दृष्टि का पूर्ण परिचय हमें यहीं से प्राप्त होने लगता है—वह प्रत्येक वस्तु के अन्तर में प्रवेश करने की क्षमता रखता है—अन्धकार से वह कहता है—

जब तुम मुझे गम्भीर गोद में
लेते हो, हे करुणावान!
मेरी छाया भी तब मेरा
पा सकती है नहीं प्रमाण!

एक साधारण सी बात को कवि ने कितनी तीव्र दृष्टि से पकड़ा है और किस विचित्रता से अङ्कित किया है!

सरिता के ऋजु प्रवाह को देखकर उसके हृदय में कितने सूक्ष्म भाव जागृत होते हैं—

वह न कभी पीछे फिरती है—
कैसा होगा उसका वक्र—
एक ग्रन्थि भी नहीं पड़ी है
उसके तरल मृदुल उर में

'वह न कभी पीछे फिरती है'—अथवा 'हृदय में ग्रन्थि का न पड़ना'—इन उद्धरणों में कवि ने सार्थक शब्दों में साधारण तथ्य का प्रकटीकरण किया है।

इसी सूक्ष्म दर्शिता का परिचय उसने निर्झर की अजस्र झर-झर के चित्रण में दिया है—

भूरि भिन्नता में अभिन्नता
छिपा स्वार्थ में सुखमय त्याग

बालकवि की प्रकृति-विषयक अनुभूति का एक नमूना देखिए—

छवि की चपल अँगुलियों से छू
मेरे हृत्तन्त्री के तार

कौन आज यह मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुञ्जार !

'वीणा' की 'प्रथम रश्मि का आना' कविता पन्तजी की सर्वोत्कृष्ट कविताओं में है। उसमें अनुभूति, कल्पना, सूक्ष्मदर्शिता और सङ्गीतमय प्रवाह सभी का सुन्दर संयोग है। भाषा संकेतात्मक और प्राञ्जल है। प्रथम रश्मि के आभास मात्र को ही पाकर बाल-विहङ्गिनी एक साथ कूक उठी और क्षण भर में उन नभ-चारिणी ने श्री, सुख सौरभ का तानाबाना गूँथ दिया। ब्राह्म मुहूर्त का एक भावमय चित्र देखिए—

शशि किरणों से उतर उतर कर
भू पर काम रूप नभचर,
चूम नवल कलियों का मृदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना !

पन्तजी का मूर्तिवान निरीक्षण (observation) देखिए कितना विशद और सबल है—

निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुत्र में हो साकार
बदल गया द्रुत जगत-जाल में
धर कर नाम, रूप नाना !

आगे चेतक पर लिखी हुई कविता भी भावपूर्ण है—'नीरव व्योम विश्व नीरव' में बालकवि का ओज प्रकट हुआ है—शिशुओं के क्रोध के समान वह भी सुन्दर ही है ! अस्तु।

वीणा की कवितायें अधिकांश में भाव-प्रधान हैं—किन्तु प्रायः सभी में भावों का बड़ा संयत दबा हुआ प्रस्फुटन हुआ है। कल्पना अभी पंख फड़फड़ा रही है—पर कहीं-कहीं तो उसकी उड़ान बड़ी ऊँची है। सूक्ष्मदर्शिता कवि के अधिकतर चित्रणों में मिलेगी—फिर भी इन कविताओं में शैशवोचित चापल्य ही है—स्नायुमय शक्ति और विराट सौन्दर्य, 'अन्धकार' आदि एक आध कृति को छोड़ अन्यत्र कम मिलेंगे।

वीणा की इन शिशु कृतियों में हमें पन्तजी की रञ्जित कला का आभास मात्र ही मिलता है। सूक्ष्मदर्शिता होते हुए भी अभी

सुबोध कवि को रङ्ग भरने की विद्या पूरी प्राप्त नहीं हुई, इसी कारण इन कविताओं में धूमिल श्वेतछाया ही है—उनका रङ्ग धानी रेशमी ही है। फिर भी स्थान-स्थान पर उसमें रङ्ग और प्रकाश का यथेष्ट समावेश है—

दिया नाथ का विपुल विभव जब
मेरी आहों से तत्काल
भस्म हो चुका था पश्चिम में
वह्नि-जाल बन एक कराल !

भाषा भी वीणा की तुतली है—कवि की प्रौढ़ वाणी की अपेक्षा उसमें यत्र-तत्र कुछ-दुर्बल प्रयोग कानों को कष्ट देते हैं। यथा—

उमर अधखिली बोली में—

× × ×

स्वीकारो पत्रं पुष्पं—

× × ×

सकल स्वार्थ की निज बलि दे !

× × ×

दबा मेरा दुर्बल-दिल-प्राण !

परन्तु फिर भी इस तुतलेपन में भी उस भावी शक्ति का आभास है जिसके कारण पन्त की भाषा हिन्दी के काव्यमय रूप का आदर्श बन सकी है। इन 'विना व्याकरणं विना विचार' के छन्दों में भी मूर्तिमत्ता और लाक्षणिकता का यथेष्ट पुट है।

मारुत ने जिसकी अलकों में
चञ्चल चुम्बन उलझाया !

× × ×

अन्धकार का अलसित अञ्चल,
अब द्रुत ओढ़ेगा संसार।

× × ×

जहाँ स्वप्न सजते शृङ्गार। (मूर्तिमत्ता)

कहीं तो भाषा की संकेतात्मकता (Suggestiveness) बड़ी ही विशद और प्रौढ़ हुई है—

सौरभ वेणी खोल रहा था
तेरी महिमा की पवमान !

उस समय में, जब भाषा या तो प्राचीन रीति की उलझनों में जकड़ी हुई थी या फिर खड़ी बोली की इतिवृत्ति-प्रवृत्ति और अपनी स्वाभाविक खड़खड़ाहट के कारण काव्य के उपयुक्त नहीं प्रतीत होती थी—पन्तजी ने इस प्रकार भाषा-निर्माण प्रारम्भ कर दिया था। निर्माता-कवियों में ही यह शक्ति सम्भव है।

अन्त में, वीणा हमारे इस कलाकार की प्रथम कृति होने के सर्वथा उपयुक्त है। अपने स्वप्न-नीड़ से बाहर आकर जो इस 'विहग-वन' के 'राजकुमार ने' अस्फुट गान गाये हैं, वे सुन्दर हैं, भोले हैं, कोमल हैं।

है स्वप्न नीड़ मेरा भी जग उपवन में
मैं खग-सा फिरता नीरव-भाव गगन में
उड़ मृदुल कल्पना पंखों में, निर्जन में
चुगता हूँ गाने बिखरे तृन में कन में

परन्तु इनमें भावी प्रौढ़ता की आशा है, विश्वास है।

मैं इतनों की सुख सामग्री
हूँगी जगती के मग में
शोक-मुक्त होंगे द्रुत इतने
कोक मुझे कर अवलोकन !

'ग्रन्थि'

ग्रन्थि कवि की प्रारम्भिक कृतियों में से है—जब तारुण्य का बाल रवि उसके प्राणों को पुलकित कर रहा था, उसी समय उस मधु-वेला में भाग्य ने उसके हृदय में एक ग्रन्थि डाल दी जिसे वह कदाचित अभी तक नहीं खोल सका है। बहुतों से सुना कि ग्रन्थि पन्तजी के अपने अनुभव पर आधृत है, उसमें उन्होंने अपनी प्रणय-कहानी लिखी है। वास्तव में इस लेख का लेखक कवि के आन्तरिक जीवन के इतने निकट

नहीं है कि इस विषय में कुछ निश्चय-पूर्वक कह सके—और न किसी के व्यक्तिगत जीवन की चर्चा श्लाघ्य ही है। हाँ, इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनको उछ्वास, आँसू और ग्रन्थि ये तीन कविताएँ किसी विशेष प्रेरणा-भार से दबकर लिखी हुई हैं और इनमें आत्म-जीवन सम्बन्धी कुछ स्पर्श अवश्य है।

ग्रन्थि कवि के अपने 'विज्ञापन' के अनुसार सन् १९२० के जनवरी मास में लिखी गई थी। उछ्वास की तरह इसका कथा भाग भी बहुत थोड़ा है, पर शायद स्पष्ट उससे अधिक। कहानी केवल इतनी सी है कि एक बार संध्या के समय नायक की तरणी किसी ताल में डूब गई और उस सान्ध्य निःस्वर से गहन जल-गर्भ में कुछ समय के लिये उसका विश्व तन्मय हो गया। किन्तु थोड़ी देर बाद उसकी आँखें खुलती हैं और संज्ञा प्राप्त करने पर वह देखता है कि एक सुकोमल बालिका उसका शीश अपनी जंघा पर रखे हुये बड़ी व्यग्र दृष्टि से उसकी ओर देख रही है। नायक का उसकी मूकना की आड़ में प्रणय का प्रथम परिचय पढ़ते देर नहीं लगती और वह भी उसके प्रेम-पाश में बन्दी होकर पहिली बार अपने शून्य एवं वञ्चित जीवन में अपनाव का अनुभव करता है। यह प्रणय-कहानी चलती है और नायक नायिका दोनों एक दूसरे के वियोग में व्याकुल समय व्यतीत करते हैं, परन्तु अन्त में समाज इसको स्वीकार नहीं करता और नायिका का ग्रन्थि-बन्धन किसी दूसरे व्यक्ति के साथ हो जाता है। बस, कहानी यहीं प्राण तोड़ देती है, और नायक जिसे जन्म से ही कभी अपनाव नसीब नहीं हुआ था; वेदना की निरापद शरण में चला जाता है। ग्रन्थि में कथा तो क्या, कथा एक पृष्ठभूमि मात्र है।

इस प्रकार ग्रन्थि विप्रलंभ शृङ्गार की कविता है, युवक-हृदय का आग्रह भी यही होता है। इसकी कथा प्रथम पुरुष में आत्म-कथा के रूप में चलती है। नायक स्वयं अपनी बीती सुनाता है। गति की दृष्टि से कथा में एक विषमता है वैसे तो यह सर्वत्र ही बड़ी मन्दगति से चित्रित और पुष्पित दृश्यों तथा अनेक चिन्तनों में होती हुई चलती है, परन्तु एकाध स्थान पर जहाँ कवि को केवल इतिवृत्त मात्र ही कथन करना है, उसकी गति में लपक-सी आ जाती है प्रारम्भ में कवि अपनी कल्पना का आह्वान करता है और विश्व के गम्भीर गीत को भुलाकर

प्रणय की सजल-सुधि में मग्न हो जाना चाहता है। फिर कथा आरम्भ होती है और हमको प्रथम परिचय का भाव-प्रवण चित्र देखने को मिलता है—

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर
शशि-कला सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान-मुख मेरा अचल,
सदय भीरु अधीर चिन्तित दृष्टि से।

अन्तिम पंक्ति में कवि ने भावों के एक वृहत प्रवाह को भर दिया है—साथ ही बाला की चेष्टा का विम्ब भी ज्यों का त्यों अङ्कित है। नायक थोड़ी देर उस भाव चित्रित सौन्दर्य को देखता रहता है, फिर धीरे से उसकी आँखें चार होती हैं। कवि की भावुकता उसका वर्णन बड़े सजीव शब्दों में करती है—

एक पल; मेरे प्रिया के दृग-पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे
चपलता ने इस विकम्पित पुलक से
दृढ़ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।

पाठक देखें कि सूक्ष्म भावुकता के साथ उपरोक्त पद में कल्पना का संयोग भी बड़ा मधुर हुआ है। इसके आगे कृतज्ञ नायक की मिन्नतें हैं—

प्रेम कण्टक से अचानक विद्ध हो
जो सुमन तरु से विलग है हो चुका
निज दया से द्रवित उर में स्थान दे
क्या न सरस विकास दोगी तुम उसे

फिर वह शीघ्र ही आश्वस्त हो जाता है और कहता है—

कौन मादक कर मुझे है छू रहा,
प्रिय तुम्हारी मूकता की आड़ में!

यहीं पन्तजी ने प्रेम पर, एक बड़ी भावपूर्ण उक्ति कही है, जिससे उनकी तद्विषयक मर्मज्ञता का परिचय मिलता है—

यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपाङ्गों से अधिक है देखता

दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा !

'वारि पीकर पूछता है घर सदा' कथन के द्वारा कवि ने चिर परिचित उक्ति को एक नया रूप तो दिया ही है, परन्तु भाव की व्यञ्जना भी बड़ी सुन्दर की है। इसके उपरान्त नायिका बड़े साहस से कुछ कहने का प्रयत्न करती है परन्तु 'नाथ' से आगे नहीं बढ़ती—(यद्यपि इस शब्द में ही वह सारे भावों को ताबीज की तरह भर देती है)—और लज्जा की लाली उसके मुख को चुप कर देती है। कवि यहाँ सुन्दर कल्पना करता है जो संस्कृत कवियो या प्राचीन शृङ्गारियो की याद दिलाती है। वह कहता है कि नायिका क्यों चुप हो गई ? इसलिये कि—

देख रति ने मोतियो की लूट यह,
मृदुलि गालों पर सुमुखि के लाज से
लाख सी दी त्वरित लगवा, बन्द कर
अधर-विद्रुम द्वार अपने कोष के !

आगे स्पृहा और संकोच के सुन्दर समर का वर्णन है जो अधरों को कम्पित करता हुआ एक दुर्बल लालिमा में बह निकला था।

फिर दृश्य बदल जाता है और कवि हमें रंगरेलियों के चञ्चल वातावरण में ले जाता है, जहाँ—

बैठ वातायन निकट उत्सुक नयन
देखती थी प्रियतमा उद्यान को,
पूछता था कुशल फूलों से जहाँ
मधुर स्वर में मधुर स्वर से फूल का !

यह वातावरण हमें भावी हास-परिहास के लिए तैयार करता है और शीघ्र ही—

मन्द-मुसकाती, चपल भ्रू-बीच में
हृदय को प्रतिपल डुबाती, आज भी
संगिनी सखियाँ वहाँ आईं सहज
हास औ परिहास-निरता, दोलिता।

बस फिर विनोद की सरिता उमड़ती है और सखियाँ तानों की बौछार करने लगती हैं। यह शृङ्गारिक हास्य बड़ा उत्तम है।

इसमें हँसी नहीं एक मधुर गुदगुदी है जो हृदय में रति की भावनाएँ जागृत करती है। इस प्रेम-परिहास में एक मादकता है, एक नशा है, जो प्रेमी रसिकों को पागल बना देता है। प्रणय-आक्रान्त हृदय में इस प्रकार का भोला हास-विलास किस प्रकार एक प्रफुल्लता ला देता है और यह अनुभव प्रेमियों को कितना मीठा लगता है इसका पन्तजी को विशद ज्ञान है। इसके अनेक उदाहरण ग्रन्थि में मिलेंगे। उनमें कवि ने प्राकृतिक अप्रस्तुत सामग्री के चयन में अपूर्व कौशल दिखाया है। एक मनचली सखी प्रेम की व्याख्या करती है, उसकी चपलता तो देखिए—कितनी शोख है—

मन्द चलकर रुक, अचानक अधखुले
चपल-पलकों से हृदय प्राणेश का,
गुदगुदाया हो नहीं जिसने कभी,
तरुणता का गर्व क्या उसने किया!

यह रसिकता आगे और बढ़ जाती है और सखि कहती है—

हास-सरिता में सरोजों से खिले
गाल के गहरे गढ़ों को मधुप-से
चुम्बनों से हो नहीं जिसने भरा,
उस खिली चम्पाकली ने क्या किया!

उक्त पद सभी, उत्कृष्ट और परिष्कृत शृङ्गार रसज्ञता के उदाहरण हैं—उनकी ऐन्द्रियता में भी सुरुचि है।

इसके उपरान्त नायक की अपनी कथा है जिसमें वह बतलाता है कि किसी प्रकार प्रारम्भ से ही उसका जीवन शून्य और प्रेम-वञ्चित रहा है—उसमें मातृ-निधन, फिर पिता का वियोग, और अकिञ्चनता सभी का प्रकोप है। यह निरवलम्बता बालिका को पाकर कुछ कम हुई थी परन्तु—

अभी पल्लवित हुआ था स्नेह!

और अन्त में—

प्रात-सा जो दृश्य जीवन का नया
था खुला पहिले सुनहले हर्ष से,
साँझ के मूर्छित प्रभा के पत्र पर
करुण उपसंहार, हा उसका मिला!

अर्थात्—

हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि-बन्धन होगया, वह नव कुसुम
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी—
अन्य मानस का विभूषण होगया !

कितना गहन विषाद है। उक्त कथन में उक्ति का चमत्कार नहीं स्पष्ट भाव व्यञ्जना की पुकार है। असूया भाव कुछ दबा हुआ होने पर भी उभर आया है, उसमें विवशता ने गहराई ला दी है। यह कसक आगे चल कर और तीव्र हो जाती है और निराशा-विवश प्रेमी चीख उठता है।

शैवलिन ! जाओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल आलिङ्गन करो तुम गगन का,
चन्द्रिके चूमो तरङ्गों के अधर,
उडुगनो गाओ पवन वीणा बजा।
पर हृदय सब भाँति तू कङ्काल है,

× × × ×

प्रेमी देखता है कि शैवलिनी सिन्धु से मिलने जा रही है, जाए; चन्द्रिका तरङ्गों के अधर चूम रही है, चूमे, उसका क्या ? अनिल गगन का आलिंगन करता है, तो करने दो। उसका हृदय तो सभी प्रकार कङ्काल है, उसके लिये तो निर्जन के सिवाय और कहीं ठिकाना नहीं। शुद्ध भाव की व्यञ्जना की दृष्टि से ग्रन्थि की ये पंक्तियाँ बड़ी सुन्दर हैं—उनमें भाव की स्वच्छता है, चिन्तन का भार या विचार की उलझन नहीं है। तदुपरान्त निराश प्रणय का विस्फोट है—परन्तु इस पागलपन में भी एक सिलसिला है। वास्तव में यह सिलसिला भावों के प्रकृत-प्रवाह में बाधक होता है, फिर भी ग्रन्थि का यह भाग काव्य की दृष्टि से काफी महत्त्व रखता है। इसमें दर्शन, सौन्दर्य, प्रेम, स्मृति, आशा, उन्माद, आह, अश्रु, वेदना आदि विरह के उपकरणों पर सुन्दर उद्‌गार हैं, जो प्रायः स्वतन्त्र से प्रतीत होने लगते हैं। एक प्रकार से उनका सौन्दय स्वतन्त्र-रूप में ही अधिक प्रस्फुटित होता है। इस प्रसङ्ग में कवि की सूक्ष्म-ग्राहिणी भावुकता और मूर्ति-विधायिनी कल्पना का रुचिर संयोग है। कुछ उदाहरण लीजिये—

प्रेम से कवि कहता है—

और भोले प्रेम ! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से, जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहाँ
आह है, उन्माद है, उत्ताप है !
पर नहीं तुम चपल हो अज्ञान हो,
हृदय है मस्तिष्क रखते हो नहीं,

'हृदय है मस्तिष्क रखते हो नहीं'—प्रेम की कितनी सुन्दर व्याख्या है ! भवितव्यता पर कवि का उद्गार बड़ा गम्भीर साथ ही व्यापक है—वह कहता है—

हा अभय भवितव्यते ! किस प्रलय के
घोर तम से जन्म तेरा है हुआ !

× × × ×

तू सरल कोमल कुसुम दल में वहाँ
है छिपी रहती कठिन कण्टक बनी !

× × × ×

स्वर्ण-मृग तेरा पिशाचिनि ! हर छुका
इष्ट कितनों के हृदय का है अहा !

उन्नीस वर्ष की नादान अवस्था में पन्तजी के अनुभव की यह व्यापकता चकित कर देती है—आगे कथा का उपसंहार है। नायक को अनुभव हो जाता है कि—

प्रेम वञ्चित को तथा कंगाल को।
है कहाँ आश्रय विरह की वह्नि में ॥

और वह संसार के विशाल महत्त्वों की रिक्तता का अनुभव करता हुआ 'वेदना के मनोरम विपिन' में जाकर सब भाँति सुख सम्पन्न हो जाता है—इस प्रकार 'पतन के नीले अधर पर भाग्य का निठुर उपहास' दिखलाने के उपरान्त कवि विदा लेता है।

ग्रन्थि प्रेम-कहानी है, उसका शृङ्गार विप्रलम्भ है, आरम्भ में उसमें पूर्व राग का भी अच्छा विकास है। एक प्रकार से यह पूर्व राग कुछ अंश में संयोग की सीमा तक पहुँच गया है। इस स्थायी भाव के अतिरिक्त शृङ्गार के प्रमुख सञ्चारियों एवं सात्विकों की भी ग्रन्थि में

न केवल व्यञ्जना है वरन् विवेचना भी है। यह विवेचना आचार्य-कृत विवेचना नहीं, कवि की विवेचना है, अतः स्वभावतः ही भावुकता में लिपटी हुई। जैसा कि उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है। वास्तव में ग्रन्थि गीति काव्य ही है, उसे खण्डकाव्य कहना उसके समझने में बाधक होगा। हाँ, कहीं-कहीं चिन्तन का अत्यधिक समावेश अवश्य उसकी गीतिमयता और काव्य दोनों में व्यवधान डालता है।

अब एक दृष्टिपात ग्रन्थि के कला भाग पर भी कर लिया जाये। तरुण कवि की कृति होने के कारण, वह प्रकृति से ही अन्य उत्तर रचनाओं की अपेक्षा, अधिक अलंकृत है। जिन दिनों कवि ने ग्रन्थि की रचना की थी, उन दिनों उसका संस्कृत काव्य का अध्ययन भी अंशतः इसके लिए उत्तरदायी है। ग्रन्थि में हमें अलङ्कारों की एक चित्रित छटा मिलती है। सीधे-साधे किसी बात को प्रभावशाली शब्दों में कहने की कला ग्रन्थि में नहीं है, वहाँ तो साधारण से साधारण बात वक्रता या अलङ्कारों की सहायता से व्यक्त की गई है।

अब पहिले थोड़ा-सा विवेचन ग्रन्थि की अलङ्करण सामग्री का करना उपयुक्त होगा। कवि ने वास्तव में अपने परिचित प्राकृतिक विधानों से अप्रस्तुत ग्रहण किया है, अतः वह सूक्ष्म को स्थूल रूप देने में बड़ा सफल हुआ है, और उसके अलङ्कार प्रायः चित्रमय हो गये हैं। एक उपमा लीजिये—

सान्ध्य-निःस्वप्न से गहन-जल गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया

गहन जलगर्भ की रूप रेखा में सान्ध्य निस्वन की उपमा ने रङ्ग भर दिया है और उसकी गहनता मुखर हो उठी है, साथ ही यह चित्र वातावरण में भी 'फिट' हुआ है।

..................मैं झट चौंक कर।
जग पड़ी हूँ अनिल-पीड़ित लहर-सी॥

उक्त उपमा में तरुणी के चौंकने का कितना कोमल चित्र है।

कुछ उपमाएँ ऐसी हैं जो चित्रमयता लाने के लिए नहीं भाव व्यञ्जना में सहायक होने के लिए प्रयुक्त हुई हैं—

देश के इतिहास के से बहिन तुम,
वृत्त कोरे गिन रही हो!.......

× × ×

……………कृपण से दान-सी
दैव से जब प्रेमिका मुझको मिली !

भाग्यहीन नायक को दैव से प्रेमिका की प्राप्ति ठीक ऐसी ही थी जैसी कृपण से दान-प्राप्ति ।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थि में कुछ ऐसी उपमाएँ भी मिलेंगी जो प्रसङ्गानुकूल होने के कारण भाव-व्यञ्जना में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर देती हैं—

अवनि के बढ़ रहे थे दिवस से ।

वसन्त ऋतु मे पृथ्वी का वैभव इस प्रकार वढ़ रहा था जैसे उसके दिवस—कितनी उपयुक्त उपमा है—

… ……………उस दृश्य की
चारु चर्चा ने हमारा प्रिय समय
हर लिया उस हंसनी के हृदय सा

कहीं-कहीं उपमाओं की झड़ी लग जाती है जिससे व्यञ्जना अधिक तीव्र हो जाती है—

'जब अचानक अनिल की छवि में पला
एक जल-कण जलद-शिशु-सा पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता का गान-सा
चाह-सा, सुधि-सा, स-गुन-सा, स्वप्न-सा

अस्तु उपमाओं के ऐसे श्रेष्ठ उदाहरण ग्रन्थि में अनेक हैं। परन्तु साथ ही कहीं उपमाओं की अनावश्यक रूप से भरमार भी हुई है जो भाव की क्षीणता और शब्दाडम्बर की द्योतक है।

पवन से उभरे गगनमय पङ्क से
परम-सुख के उस विशाल-विलास मे
शरद घन सा लीन हो, गिर पलक सा
भूल जावे……… ……… ………

उपमाओं के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य चमत्कार प्राधान्य अलङ्कार भी ग्रन्थि में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। जैसा कि मैं पूर्व ही निवेदन कर चुका हूँ ग्रन्थि कवि की प्रारम्भिक कृति है, अतः स्वभाव से ही उसमें चमत्कार, उक्ति-वैचित्र्य और शब्द-सौन्दर्य की ओर अधिक आकर्षण है। इसके प्रमाण में कुछ उदाहरण दर्शनीय हैं।

निज पलक मेरी विकलता साथ ही
अवनि से, उर से, मृगेक्षणि ने उठा,
एक निज स्नेह-श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध करदी दृष्टि मेरी दीप-सी!

उपरोक्त पद में सहोक्ति, यथासंख्य, श्लेष, उपमा आदि का अनूठा संकर है; साथ ही प्रत्येक अलङ्कार एक पृथक् भाव का द्योतक है, उसका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं हुआ और अन्तिम उपमा 'दीप सी' में तो कवि ने कमाल कर दिया है। एक और पद लीजिए। उसमें विषम, विरोधाभास, लोकोक्ति का सुन्दर समावेश है।

जो अपाङ्गों से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है तथा,
वारि पीकर पूछता है घर सदा!

× × × ×

शब्दालङ्कारों की छटा भी ग्रन्थि में मनोहर है। उसकी अनुप्रास-मयी भाषा में वांछित माधुर्य और सङ्गीत है। कवि का अनुप्रास स्थूल शब्दजाल पर आश्रित नहीं है, उसमें एक सूक्ष्म और तरल सङ्गीत है। उदाहरणार्थ—

लोल लहरों से कलापति पर लिखी

× × × ×

ललित लोल उमङ्ग-सी लावण्य की

× × × ×

रसिक पिक से सरल तरुण रसाल-ये।

इसके अतिरिक्त श्लेष, पुनरुक्तवदाभास, यमक आदि भी ग्रन्थि की भाषा की वक्रता को बढ़ाने में सहायक होते हैं—

तरणि के ही सङ्ग तरल तरङ्ग से
तरणि डूबी थी हमारी ताल में।

+ + + +

..............................पूर्व को,
पूर्व था पर वह द्वितीय अपूर्व था!

यह तो रही प्राच्य अलङ्कारों की बातें; पन्तजी ने पाश्चात्य नवीन अलङ्कारों की सहायता लेकर भी ग्रन्थि की रूप-रेखा को अलंकृत किया है। उसमें मानवीकरण, विशेषण-विपर्यय, ध्वनि-चित्रण आदि विदेशी अलङ्कारों की भी विचित्रता है।

दीनता के ही विकम्पित पात्र में
दान बढ़कर छलकता है प्रीति से !

उपरोक्त उद्धरण में दीनता की प्रधानता दिखाने के लिए कवि ने उसे मूर्तिमन्त कर दिया है। दीन के पात्र में नहीं दीनता के पात्र में कहने से दीनता की महत्ता व्यक्त होती है। साथ ही पात्र विकम्पित नहीं, दीन ही विकम्पित है। अतः यहाँ मानवीकरण और विशेषण-विपर्यय का दुहरा प्रयोग है जो पात्र के श्लेष से और भी गुरुतर हो गया है। ध्वनि-चित्रण की मधुरता भी ग्रन्थि की एक विशेषता है—

विरह अहह कराहते इस शब्द से।

में ऐसा प्रतीत होता है मानो कोई विरही प्रत्यक्ष ही कराह रहा हो। उपरोक्त अलङ्कार ग्रन्थि में राशि-राशि मिलेंगे। एकाध स्थान पर कवि ने अँगरेजी ढङ्ग पर मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग किया है जिससे उसकी सूझ का पता चलता है।

निम्न पद में रेखाङ्कित (Underline) करने का कितना अच्छा चमत्कारिक प्रयोग है—

बाल रजनी-सी अलक थी डोलती
भ्रमित-सी शशि के बदन के बीच में
अचल, रेखाङ्कित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछवि के काव्य में

इन अलंकृत प्रयोगों के अतिरिक्त ग्रन्थि में ऐसी बहुत सी उक्तियाँ भरी पड़ी हैं जो किसी अलङ्कारिक चमत्कार पर आश्रित नहीं हैं वरन् उनमें एक भावुकता समन्वित वक्रता, एक ध्वनि मिलती है जो तुरन्त ही हृदय को स्पर्श करती है। ग्रन्थि की ये उक्तियाँ मेरे विचार से उसके काव्य-सौन्दर्य का एक अङ्ग है—

दो एक नमूने देखिए—

सान्ध्य-निस्वन-से गहन जल-गर्भ में
था हमारा विश्व तन्मय हो गया !

विश्व के तन्मय होने में एक गम्भीर भाव है जो जल में डूबने की अवस्था का भी चित्र उपस्थित करता है। हमारा विश्व कहने से उसमें करुणा की पुकार और अधिक तीव्र हो गई है।

साँझ को उड़ते शरद के जलद से
सीख सहृदयता, उसी के साथ ये (नयन)
लीन भी हैं हो चुके आकाश में
विहग-बाला की व्यथा को खोजने—

अन्तिम पंक्ति में कवि ने दूर अकूल आकाश में दृष्टि के लीन होने की बात अत्यन्त भावुकता के साथ व्यञ्जित की है।

... . मैं पवन के
गीत अञ्चल में मधुर थी भर रही।

× × × ×

पूछता है जो सितारों से सतत
प्रिय तुम्हारी नींद किसने छीनली।

ग्रन्थि के कलापक्ष पर विचारते हुए अब अन्त में उसकी भाषा की चित्रण-शक्ति एवं चित्रमयता पर दृष्टिपात और कर लेना चाहिए। ग्रन्थि एक रमणीक प्रेम काव्य है, उसकी धारा जिन दृश्यों में होकर बहती है वे सुरभित हैं, मादक हैं उनमें प्रकृति का प्रभूत सौन्दर्य-सञ्चय है जो प्रेम के भावों की उपयुक्त पृष्ठभूमि का कार्य करता है। संध्या की एक झलक देखिए—

रुचिर तर निज कनक-किरणों को तपन
चरम-गिरि को खींचता था कृपण-सा,
अरुण-आभा में रँगा था वह पतन,
रज कणों-सी वासनाओं से विपुल!

कवि किस प्रकार प्रकृति में रम कर उसका अङ्कन करता है इसका एक उदाहरण लीजिए :—

इन्दु की छवि में तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की बीचि में,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में।

प्राकृतिक दृश्यों के साथ ही ग्रन्थि में चेष्टाओं के भी सुन्दर

चित्र हैं—मार्जार-बाला की उछल-कूद तो देखिए, शब्दों में कितनी चञ्चलता है—

तूल-सी मार्जार-बाला सामने
निरत थी, निज बाल-क्रीड़ा में कभी
उछलती थी फिर दुबक कर ताकती,
झूमती थी साथ फिर-फिर पूँछ के!

प्रेम की उत्सुकता का एक सजीव अङ्कन और देख कर इस प्रसङ्ग को समाप्त किया जाय—

......................प्रति शब्द से
चौंक कर उत्सुक नयन जिसने उधर
हो न देखा, प्यार क्या उसने किया।

सर्वांशेन दृष्टि-पात करते हुए, 'ग्रन्थि' युवक कवि की सफल कृति है। काव्य-प्रिय युवक प्रेमी इस ग्रन्थ-रत्न का सदैव आदर करेंगे।

पल्लव

वीणा के उपरान्त 'पल्लव' में कवि की प्रतिभा पल्लवित हुई। ग्रन्थि और वीणा का समय तो लगभग एक ही है। पल्लव में कवि का यौवन पूर्णरूप से फूट निकला है। वह एक प्रौढ़ और मननशील कलाकार के रूप में हमारे सम्मुख आता है। पल्लव की भूमिका इसकी द्योतक है।

पल्लव में यौवन के गीत हैं—अतः स्वभावतः ही उसमें अनुभूति और भावोन्माद का संयम नहीं हो सका। इसी कारण पल्लव में पन्तजी की और कृतियों की अपेक्षा उद्गीतियाँ अधिक हैं और कला-रसिकों को यह कृति ही सर्वोत्कृष्ट जँचती है। पल्लव के लिए कवि स्वयं विनम्र भाव से कहता है कि—

न पत्रों का मर्मर सङ्गीत
न पुष्पों का रस, राग, पराग,
एक अस्फुट, अस्पष्ट, अगीत,
सुप्ति की ये स्वप्निल मुस्कान;
सरल शिशुओं के शुचि अनुराग,
वन्य-विहगों के गान!

परन्तु यह उसकी सौम्यता ही है; वास्तव में बात तो यह है कि—

हृदय के प्रणय-कुञ्ज में लीन,
मूक-कोकिल का मादक गान।
बहा जब तन-मन-बन्धन-हीन,
मधुरता से अपनी अनजान॥
खिल उठी रोओं-सी तत्काल!
पल्लवों की यह पुलकित डाल॥

पल्लव में हृदय का प्राधान्य है और वह शिशुओं का शुचि-अनुराग न होकर युवक का उन्मुक्त प्रणय गान ही है।

पल्लव की प्रथम दो कविताएँ 'उच्छ्वास' और 'आँसू' पन्तजी की प्रेम-विषयक रचनाएँ हैं। बात सिर्फ यह है कि एक अस्फुट-यौवना किशोरी पर कवि मुग्ध हुआ। स्नेह पल्लवित ही हुआ था कि सन्देह द्वारा राग-विराग में परिणत हो गया। 'उच्छ्वास' में यही कथानक गर्भित है। इसमें पहले कवि 'उच्छ्वास' से कहता है कि तू बाल बादल-सा उठाकर समस्त जग को आच्छादित करले और—

बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में!
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षण भर में॥

आगे उच्छ्वास की बालिका का बड़ा भोला और सुन्दर वर्णन है—

सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषन,
× × ×
रँगीले, गीले फूलों से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य-सरिता के कूलों से
खेलती थी तरङ्ग सी नित
—इसी में था असीम अवसित!

फिर भी कवि का आकर्षण देखिये कितना मधुर है—

उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया,
नित मधुर-मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया।

मैं मन्द-हास-सा उसके
मृदु अधरों पर मँडराया।

उच्छ्वास का दृश्य पर्वतीय भूमि में है। इसका वर्णन चित्रित और रङ्गीन है। दूसरे भाग में स्नेह और सन्देह पर बिखरे गीत हैं जो भाव की दृष्टि से काफी प्रौढ़ हैं, उनमें गम्भीर विचारों का विकास मिलता है—स्नेह के लिए आप कहते हैं—

यही तो है बचपन का हास
खिले-यौवन का मधुप विलास
प्रौढ़ता का वह बुद्धि विकाश,
जरा का अन्तर्नयन-प्रकाश;
जन्मदिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास!

सन्देह पर कवि की भावनाएँ कितनी सुलझी और मूर्तिमती हैं—

मर्म पीड़ा के हास!
राग का है उपचार,
पाप का भी परिहार,
है अदेह सन्देह, नहीं है
इसका कुछ संस्कार।
हृदय की है यह दुर्बल हार!!

खींचलो इसको, कहीं क्या छोर है?
द्रौपदी का यह दुरन्त दुकूल है!
फैलता है हृदय में नभ-बेलि-सा,
खोजलो, इसकी कहीं क्या मूल है?

अन्तिम दो पंक्तियों में कवि ने अत्यन्त प्रौढ़ मनन-शक्ति का परिचय दिया है—

उच्छ्वास एक प्रौढ़ कृति है—हाँ इसमें तारतम्य की कमी है, जो बहुत खटकती है। 'आँसू' कविता में कवि का 'गीला गान' है। वास्तव में जिन बातों को संसार ने पीड़ामय और दुखद समझ रखा है—उनमें कवि को एक विशेष माधुर्य का दर्शन होता है। इसी से तो वह कहता है—

कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता, सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द का,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है !

विरह से पीड़ित कवि एक साथ चीख पड़ता है—

हाय किसके उर में
उतारूँ अपने उर का भार ।

आगे जब उसका हृदयाकाश कुहरे से घिर कर अन्धकारमय हो जाता है तो प्रेयसी की सुधि एक साथ आकर उसको विचलित कर देती है—देखिए इस भावना का कितना चित्रमय अङ्कन हुआ है—

कभी कुहरे-सी धूमिल घोर,
दीखती भावी चारों ओर ।
तड़ित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान,
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ़ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगुनुओं से उड़ मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हे निदान !

अब प्रकृति की प्रत्येक सुन्दर वस्तु में उसे उस प्रियतमा का आभास मिलता है—यहाँ 'स्मरण' भाव के बड़े ही विशद चित्रण हैं । दूसरे भाग में अत्यन्त करुण प्रणयोद्गार हैं—उनमें एक अनिर्वचनीय टीस है—एक विवशता का संकेत है—कवि कहता है—

कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज
हाय, क्या गङ्गाजल की धार ।

यह करुण-भावना बढ़ते-बढ़ते संसार को ही करुणाप्लावित एवं प्रेम-दग्ध देखने लगती है—

विश्व वाणी ही है क्रन्दन,
विश्व का काव्य अश्रु-कन

'आँसू' की नायिका के विषय में तो अन्यत्र लिखा ही जा चुका है। कहने की आवश्यकता नहीं कि उपरोक्त दोनों कविताएँ अनुभूत विषय पर लिखी होने के कारण अत्यन्त मर्मस्पर्शी हैं।

इन प्रेम-गीतों के अतिरिक्त पल्लव की अन्य कविताओं में कल्पना और भाव का प्राधान्य है—वैसे तो प्रत्येक कविता में ही दोनो का सम्मिश्रण आवश्यक होता है परन्तु फिर भी हम कुछ कविताओं को एकान्त कल्पना-प्रधान और कुछ को भाव-प्रधान कह सकते है। तीसरी श्रेणी की कविताएँ वे हैं जिनमें उपर्युक्त गुणों का उचित सामञ्जस्य हुआ है और इस कारण वे बहुत विशद हो गई हैं। कवि की विचार शक्ति भी स्थान-स्थान पर उनमें ठोस गाम्भीर्य का पुट लगाती रही है। इन तीनों के उचित संयोग ने मिलकर परिवर्तन को एक पृथक स्थान दे दिया है। परिवर्तन का स्थान पन्तजी की समस्त काव्य-सृष्टि में पृथक ही है।

कल्पना-प्रधान रचनाओं में हम वीचि-विलास, विश्व-वेणु, निर्झरगान, निर्झरी, नक्षत्र, स्याही की बूँद आदि की गणना कर सकते हैं। इन रचनाओं में कल्पना की सहायता से सुन्दर और आकर्षक चित्र अवश्य खींचे गये हैं परन्तु उनमे हृदय को रमाने वाली भावुकता का संयोग कम है। 'स्याही की बूँद' का चित्र देखिए कितना सच्चा उतरा है—

> अर्ध-निद्रित-सा, विस्मृत सा
> न जागृत-सा न विमूर्छित-सा
> अर्ध-जीवित-सा, औ मृत-सा,

परन्तु फिर भी 'छायावाद की कविता का जानी दुश्मन' उसे कल्पना का अपव्यय कह सकता है। इसी कारण 'नक्षत्र' में पन्तजी की कल्पना गृद्धराज के पङ्ख लेकर उड़ी है—परन्तु भावुकता का साथ न हो सकने के कारण वह कोरी उड़ान ही हो गई है—

हाँ 'वीचि-विलास' में कोमल कल्पना है और इसी कारण हृदय-वृत्ति उसमें अधिक रमती है—

> छुई-मुई सी तुम पश्चात
> छूकर अपना ही मृदुगात
> मुरझा जाती हो अज्ञात!

स्वर्ण-स्वप्न-सी कर अभिसार,
जल के पलकों में सुकुमार।
फूट आपही आप अजान,
मधुर वेणु की सी झङ्कार॥

'निर्झर गान' में दार्शनिक गाम्भीर्य है।

पन्तजी की भाव-प्रधान कविताएँ हैं—मोह, विनय, याचना, विसर्जन, मधुकरी, मुस्कान, स्मृति, सोने का गान। इनमें मोह, विनय, याचना, स्मृति में वीणा की स्मृतियाँ हैं—ये भी प्रायः उसी शैली में लिखी गई हैं। हाँ, इनमें भाव अधिक सुलझे हुए हैं—जैसे मुस्कान में। विसर्जन और मुस्कान शुद्ध गीत काव्य के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनमें एक भाव, प्रारम्भ से अन्त तक व्याप्त है, कहीं भी अनावश्यक गाम्भीर्य या कल्पना की उड़ान भाव के उन्मुक्त स्रोत में बाधक नहीं होती।

तीसरे प्रकार की कृतियाँ वे हैं जिनमें कल्पना और भावों का उचित सम्मिश्रण है। ये कवितायें ही पल्लव की प्राण हैं। मैं तो इन्हें पन्तजी की समस्त काव्य-साधना का पुरस्कार कहूँगा। ये हैं मौन निमन्त्रण, बालापन, छाया, बादल, अनङ्ग, स्वप्न आदि। इनमें पन्तजी की उद्दीप्त भावुकता उनकी प्रखर कल्पना के साथ हाथ में हाथ डाले चली है। साथ ही कोरी भावुकता ही नहीं उनमें एक दार्शनिक अन्तर्प्रवाह भी है जो उन्हें बहुत ही सशक्त (Powerful) बना देती है। मौन-निमन्त्रण का तो प्रत्येक पद शैली के स्काईलार्क के प्रत्येक स्टेन्जा की तरह कटा-छँटा (diamond cut) है। उसके सभी चित्र अभिराम हैं—

कनक छाया में, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
तड़प, बन जाते हैं गुञ्जार;
न जाने, ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरे दृग मौन!

बालापन' कविता भी पल्लव की मुकुट मणि है। उसमें एक अबोध भावुकता का प्रवाह उमड़ रहा है। उसे पढ़ते ही अपने वृद्ध

प्रपितामह से किसी कार्य के लिये उलझती हुई एक नव-यौवना का चञ्चल चित्र सामने नाचने लगता है—

बालापन के चित्र रङ्गीन हैं और उनमें एक आवेश (Passion) है जो हृदय पर चिरस्थायी प्रभाव डालता है—

इस अतिमानी अञ्चल में फिर
अङ्कित करदो, विधि ! अकलङ्क,
मेरा छीना बालापन फिर
करुण, लगादो मेरे अङ्क !

अनङ्ग, बादल, छाया, स्वप्न में कवि ने एक ओर तो अपनी भाव प्रेरित कल्पना द्वारा बड़े विशद और विराट चित्र खींचे हैं, दूसरी ओर कल्पना पुष्ट भावुकता की सहायता से उन चित्रों में मानवता का रङ्ग भर दिया है। 'अनङ्ग' का क्षेत्र समस्त सृष्टि और काल तक व्यापक है। उसके चित्र चल-चित्रों के से हैं, उसके विशेषण बड़े पूर्ण और सबल हैं। देखिए—

आदि-काल में बाल-प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत्, हत-ज्ञान
शस्य-शून्य वसुधा का अञ्चल
निश्चल जलनिधि, रवि शशि म्लान

प्रथम-हास-से, प्रथम-अश्रु-से
प्रथम-पुलक-से, हे छविमान !
स्मृति-से, विस्मय से तुम सहसा
विश्व-स्वप्न-से खिले अजान।

बस—प्रथम-कल्पना कवि के मन में
प्रथम-प्रकम्पन उड़गन में,
प्रथम-प्रात जग के आँगन में,
प्रथम-वसन्त-विभा बन में,

प्रथम बीचि वारिध-चितवन में,
प्रथम तड़ित-चुम्बन घन में,
प्रथम-गान तब शून्य गगन में,
फूटा नव-यौवन तन में।

भाषा के प्रवाह का तो कहना ही क्या ? यही बात अधिकांश में 'बादल' में पाई जाती है। 'स्वप्न' कविता में कवि ने समस्त जगत के रहस्यों को स्वप्न मानकर उन पर दृष्टिपात किया है। छाया की भावगम्य उपमाएँ अछूती हैं! नारी, शिशु, विश्व व्याप्ति, जीवन-यान आदि।कविताएँ चिन्तन-प्रधान हैं—उनमें बहुत थोड़े-से में कवि ने सब कुछ कह दिया है। भाषा बड़ी व्यञ्जक और प्रौढ़ हो गई है। शिशु के लिये आप लिखते हैं—

गीत से जीवन मे लयमान!
भाव जिसके अस्पष्ट, अजान;
× × ×
स्वप्न से निद्रित-सजग समान,
सुप्ति मे जिसे न अपना ज्ञान;
× × ×
स्वीय-स्मिति-से ही है अज्ञान,
दिव्यता का निज तुम्हें न ध्यान!

'जीवन-यान' कविता में कवि जीवन की पहेली को देखकर एक साथ कह उठता है—

अहे विश्व! ऐ विश्व व्यथित मन!
किधर बह रहा है यह जीवन?
यह लघु पोत, पात, तृण, रजकण;
अस्थिर—भीरु—वितान,
किधर?—किस ओर?—अछोर—अजान
डोलता है यह दुर्बल-यान?

परिवर्तन

अन्त में, अब परिवर्तन रह गया। जैसा कि पूर्व ही निवेदन किया जा चुका है पन्तजी की काव्यशाला में 'परिवर्तन' का स्थान सबसे पृथक है। उन्होंने इतनी बड़ी, इतनी आवेशपूर्ण और ऐसी अनेक रसमग्न कविता कभी नहीं लिखी। यह कृति १९२४ की है जो कवि के चित्ररेखाकार के शब्दों में, उनके जीवन में एक विशेष समय

था। जीवन की वास्तविकता के प्रति, ऐहिक विपत्तियों की ठोकर खाकर, कवि का ध्यान सर्वप्रथम इसी समय गया था। कल्पना-लोक की विहारिणी कवि-प्रतिभा का मर्त्यलोक की कठोरताओं से परिचय होते ही वह एक साथ उद्दीप्त एवं उद्बुद्ध हो उठी और विश्व में व्याप्त परिवर्तन की मार्मिक अनुभूति से तड़प उठी। कवि-समालोचक शान्ति-प्रिय द्विवेदी के शब्दों में "उसमें परिवर्तनमय विश्व की करुण अभिव्यक्ति इतनी वेदना-शील हो उठी है कि वह सहज ही सभी हृदयों को अपनी सहानुभूति के कृपासूत्र में बाँध लेना चाहती है।" वास्तव में परिवर्तन में मानो समस्त विश्व की करुण अनुभूति मुखर हो उठी हो। शान्तिप्रियजी कहते हैं कि इसकी दार्शनिकता पर रवीन्द्र बाबू और विवेकानन्द के दर्शन का प्रभाव पड़ा है। परिवर्तन में भिन्न-भिन्न वर्णों के चित्र हैं। कहीं शृङ्गार का अरुण राग है तो कहीं वीभत्स का नीला रङ्ग है। एक ओर यदि 'स्वर्णभृङ्गों' के गन्ध-विहार हैं तो दूसरी ओर वासुकि सहस्रफन की शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार है। कवि की भाषा की इतनी प्रबल शक्ति अन्यत्र कम दिखाई देती है। जिस प्रकार मानव-जीवन के सिनेमा-गृह में मनोहर और भयङ्कर चित्र, प्रतिक्षण बदलते रहते हैं ठीक उसी प्रकार परिवर्तन के चित्र, पल में रम्य और पल में भयानक होते रहते हैं। कविवर 'निराला' के शब्दों में "परिवर्तन किसी भी बड़े कवि की कविता से निस्सङ्कोच मैत्री कर सकता है।" फिर भी पन्तजी के इस ग्रैण्ड भाव महाकाव्य को उनकी प्रतिनिधि कृति कहना उचित न होगा। वास्तव में पन्तजी ने न तो इससे पूर्व ही और न इसके बाद ही कोई इतनी आवेशपूर्ण कविता लिखी है। पन्तजी में आरम्भ से अन्त तक संयम का ही प्रभुत्व रहा है। इतना होने पर भी परिवर्तन पन्त के काव्याकाश में उस दूरवर्ती तारे के सदृश है जो सबसे पृथक रह कर अपनी ज्योति विकीर्ण करता है—(Like a star that dwells apart)।

अन्त में 'पल्लव' में पन्तजी की प्रतिभा का परिपूर्ण यौवन है—वह उनके पूर्ण क्षणों की वाणी है—उसमें विहगवन के इस राजकुमार की उन्मुक्त वन्य गीतियाँ हैं (Wood notes wild) हैं। वाणी का यह उन्मुक्त-विलास फिर अधिक नहीं दिखाई देता। फिर तो कवि की

चिन्तन उसे संयत बना देता है। यद्यपि युगान्त की भाषा पल्लव की भाषा से अधिक प्रौढ़, मांसल और परिपूर्ण है परन्तु उसमें यह स्वाभाविक प्रस्फुटन कहाँ ? इसी कारण पन्तजी के अधिकांश भक्त पल्लव को ही उनकी सर्वोत्कृष्ट कृति मानते हैं। वास्तव में पल्लव है भी ऐसा ही। उसमें है—

दिवस का इनमें रजत-प्रसार
ऊषा का स्वर्ण-सुहाग;
निशा का तुहिन अश्रु-शृङ्गार;
साँझ का निःस्वन राग
नवोढ़ा की लज्जा सुकुमार;
(और सबसे अधिक)—तरुणतम सुन्दरता की आग !

गुञ्जन

पल्लव के उपरान्त पन्तजी के दर्शन गुञ्जन में हुए। गुञ्जन में प्राय: १९२६-३२ तक की कविताएँ संग्रहीत हैं। कुछ कविताएँ काफी पहली भी हैं। यह कवि के जीवन में आशा का समय था। कठिन रोग से मुक्त होकर कवि की आत्मा इस समय जीवन की आशा से परिदीप्त हो उठी थी। इसी कारण गुञ्जन की कविताओं में जीवन के प्रति एक नवीन हर्षपूर्ण दृष्टिकोण मिलता है। दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य है वह है उन पर दार्शनिक प्रभाव। 'पल्लव' का अल्हड़ कवि अब एक साथ बड़ा संयत और गम्भीर हो गया है। गुञ्जन पन्तजी के अपने शब्दों में उनकी आत्मा का 'उन्मन गुञ्जन' है, कवि का क्षेत्र अब हृदय से हटकर आत्मा तक पहुँच गया है, इसी कारण उसमें आवेश की न्यूनता और चिन्तन एवं मनन का प्राधान्य है। पल्लव के उन्मुक्त गीतो के, विशेष कर, परिवर्तन की उद्गीतियों के उपरान्त यह परिवर्तन एक साथ पाठक को ग्राह्य और इसी कारण रुचिकर प्रतीत नहीं होता।

गुञ्जन में अधिकतर छोटे-छोटे गीत हैं। कारण भी स्पष्ट ही है। मनन और चिन्तन का निष्कर्ष बहुत अधिक नहीं होता। पहले गीत 'गुञ्जन' में ही आत्मा गूँज उठी है। मधुऋतु के आगमन के साथ ही वन-वन उपवन में नववयस्क अलियों का गुञ्जन छा गया। कवि-प्राण भी जीवन मधु के सञ्चय को उनमन होकर गुञ्जन करने

लगे। इस कविता की शब्द योजना इतनी विशद है कि इसको पढ़ने पर गुञ्जन की ध्वनि सुनाई देने लगती है। युग-प्रवर्त्तक कवि नव वय के अलियों (कवियों) का विश्वव्यापी गुञ्जन सुन कर आह्लाद से भर जाता है। दूसरी कविता 'तप रे मधुर-मधुर मन' बड़ी ऊँची कविता है। उसमें कवि के व्यापक भाव का अनुभव होता है। वह विश्ववेदना में तप कर और जीवन की ज्वाला में जलकर अकलुष और अधिक उज्ज्वल बनना चाहता है जिससे कि अपने तप्त-स्वर्ण से वह जीवन की पूर्णतम मूर्त्ति गढ़कर संसार में अपनापन स्थापित कर सके। यहाँ कवि के भावों में परम प्रौढ़ता का आभास मिलने लगता है। इसके उपरान्त कुछ कविताएँ जीवन सम्बन्धी हैं। वे सभी १९३२ की लिखी हुई एक सूत्र में गुम्फित हैं। थोड़ी सी विस्मय भावना, फिर मनन और ज्ञान का विकास और सुख-दुःख का परिज्ञान, अन्त में जीवन के प्रति अविरोध आकर्षण और तज्जन्य शान्ति इन कविताओं में एक क्रम से मिलेंगी। कवि को जिज्ञासा होती है—

मै चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन-मुग्ध किसके बल !

धीरे-धीरे कवि सोचता है—

क्या यह जीवन ? सागर में
जल-भार मुखर भर देना !
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा—
व्रीड़ा से तनिक न लेना ?

× × × ×

और उसे अनुभव होने लगता है—

सागर-सगम में है सुख,
जीवन की गति में भी लय;

फिर कवि इस ज्ञान पर पहुँचता है कि—

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से
मानव-जग मे बँट जावें
दुख-सुख से-औ' सुख-दुख से।

कितना सुन्दर और साथ ही अक्षरशः सत्य कथन है—कितना चिन्तनपूर्ण ! बस इस निश्चय के उपरान्त वह कह उठता है—

जीवन की लहर लहर से
हँस खेल-खेल रे नाविक !
जीवन के अन्तस्तल में
नित बूड़-बूड़ रे भाविक !

क्योंकि—

अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य चिरन्तन !
सुख-दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन !

और—

पुलकों से लद जाता तन,
मुँद जाते मद से लोचन,
तत्क्षण सचेत करता मन—
ना मुझे इष्ट है साधन !

अन्त में कवि को यह विश्वास हो जाता है कि—

सुन्दर से नित सुन्दरतर
सुन्दरतर से सुन्दरतम
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन !

इस प्रकार इन कविताओं में एक दार्शनिक शृङ्खला है जिसको कवि ने अपने चिन्तन की अग्नि में गला कर बड़े ही सुन्दर ढङ्ग से ढाला है। गूढ़ जीवन-सम्बन्धी विचारों को इतने सुलझे हुए, साथ ही भावमय और कवित्वपूर्ण शब्दों में चित्रित किया है। प्रौढ़ मनन और विस्तृत भाषाधिकार के बिना यह कभी सम्भव नहीं हो सकता।

कहीं-कहीं तो पन्तजी ने सूखे दर्शन में अपने प्राणों का मधु-उँडेल दिया है। जीवन का रहस्य उसमें लय हो जाने से ही मिलता है। इस साधारण दार्शनिक उक्ति को कवि इस प्रकार अङ्कित करता है—

कँप-कँप हिलोर रह जाती—
रे मिलता नहीं किनारा!
बुद्बुद् विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा!

'मानव' कविता कवि के इस नवीन दृष्टिकोण को बड़े रम्य चित्रों द्वारा अङ्कित करती है। प्रकृति का कवि अब 'मानवपन' पर मुग्ध हो गया है।

इस गीति-माला के पश्चात् फिर एक दूसरी शृङ्खला प्रणय-गानों की है। सब से पूर्व 'भावी पत्नी के प्रति' कविता में कवि हमें अपनी प्रेयसी का एक भाव-चित्र देता है—देखिए, किस प्रकार वह विश्व के समस्त-सौन्दर्य को उसमें देखता है—

मुकुल मधुपों का मृदु मधुमास,
स्वर्ण सुख, श्री, सौरभ का सार,
मनोभावों का मधुर विलास,
विश्व सुखमा ही का संसार;
दृगों में छा जाता सोल्लास
व्योम बाला का शरदाकाश;

आगे कवि यौवन के विकास का मूर्तिमान चित्र उपस्थित करता है—

मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण सरोज समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार
प्रणय का सा नव गान;
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण;
स्वप्न-सा विस्मय-सा अम्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण!

'भावी पत्नी के प्रति' पल्लव-सीरीज की ही कविता अधिक प्रतीत होती है—या यों कहना चाहिए कि उसमें दोनों शक्तियों का संयोग स्थल मिलता है। यह काफी लम्बी कविता है—इसके चित्र

बड़े ही भावपूर्ण और सुन्दर हैं। प्रथम मिलन का चित्र अद्भुत है। कवि की भावुक कल्पना अत्यन्त उत्तेजित हो उठती है और वह उस चित्र को अत्यन्त व्यापक बना देता है।

इसके उपरान्त कुछ गीतों में कवि ने अपनी प्रेयसी के सौन्दर्य का विश्व-व्यापी प्रभाव अङ्कित किया है—सृष्टि का प्रत्येक तत्त्व उस अनिन्द्य सुन्दरी की छवि की एक झलक पाने को आकुल है—

कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से ?
सन्ध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आँगन से !

ऊषा का वातायन से झाँकना कवि की प्रौढ़ मूर्ति-विधायिनी कल्पना का परिचय देता है। दो कविताएँ 'मुस्कान' और 'आँख' पर हैं—आँख वाली कविता में सूक्ष्मदर्शिता होने पर भी वह काफी निर्जीव है। हाँ दूसरा गीत—

तुम्हारी आँखों का आकाश,
सरल आँखों का नीलाकाश—

अत्यन्त भाव-प्रवण और भव्य है, प्रेयसी की आँखों के सरल नीलाकाश में कवि का मन-खग खो गया। पुरानी बात कितने नए ढङ्ग से कही गई है।

अब कवि को चिन्ता होती है कि—

तुम्हारे नयनों का आकाश
सजल, श्यामल, अकूल आकाश !

गूढ़, नीरव, गम्भीर प्रसार,
बसाएगा कैसे संसार
प्राण ! इनमें अपना संसार !

न इनका ओर-छोर रे पार,
खोगया वह नव-पथिक, अजान !

वास्तव में यह कवि की अन्तर्प्रवेशिनी भावुकता की पराकाष्ठा है। इसके आगे की कविता—

आज रहने दो यह गृह-काज
प्राण ! रहने दो यह गृह-काज !

का तो जिक्र हो चुका है।

ये समस्त प्रणय-गीत हर्ष-उल्लास से भरे हुए हैं—इनमें एक अपना मादक वातावरण है। इनमें अपना मधुवन है। यौवनोन्मत्त कवि को समस्त प्रकृति में प्रेयसी की मदिर छवि का दर्शन होता है—और वह पागल-सा प्रत्येक फूल, लता, द्रुम, सरसी आदि पर मँडराता फिरता है। दो एक चित्रों का अवलोकन कीजिए। 'मधुवन' में वह कहता है:—

आज उन्मद मधु-प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण-मरन्द समान
तुम्हारे शयन-शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण!

इन कविताओं में दो एक कविता रूढ़ि-परिपालन के रूप में होने के कारण स्टेण्डर्ड की नहीं है। उदाहरणार्थ 'डोलने लगी मधुर मधुवात' आदि। यहीं कुछ कृतियाँ बहुत पहले की हैं जो वीणा की शैली की याद दिलाती हैं।

इन मालाओं के अतिरिक्त कुछ कवितायें एकान्त-स्फुट हैं। उनमें नौका-विहार, अप्सरा, एक तारा, चाँदनी आदि बड़ी-बड़ी कवितायें हैं। पन्तजी की कविताओं मे 'नौका-विहार' अपने चित्रो के लिए प्रसिद्ध है। वास्तव में शब्द और तूली मे इतना निकट सम्बन्ध हिन्दी का कोई कवि स्थापित नहीं कर सका। 'अप्सरा' में कल्पना की करामात है—परन्तु उसमें शक्ति के अभाव और अलंकृति के आधिक्य के कारण लद्दूपन आगया है। 'एकतारा' कविता में बड़ी ही गम्भीर दृष्टि का उन्मीलन है। इस कविता के चित्र चञ्चल न होकर स्थिर और रङ्ग गहरे हैं। साथ ही एकाकीपन पर दार्शनिक विवेचन भी है। यह १९३२ की ही दर्शन-प्रधान कविताओं की एक कड़ी है।

अविरत-इच्छा ही में नर्तन
करते अबाध रवि, शशि, उडुगण,
दुस्तर आकांक्षा का बन्धन!
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल!

क्या नीरव-नीरव नयन सजल ?
जीवन निसग रे व्यर्थ विफल !
एकाकीपन का अन्धकार,
दुस्सह है इसका मूक भार
इसके विषाद का रे न पार !

चाँदनी पर गुञ्जन में दो कवितायें हैं—एक छोटी है जिसमें उसका रुग्ण चित्र खींचा गया है—दूसरी काफी लम्बी रचना है। इसमें चाँदनी का हर्षोत्फुल्ल उज्ज्वल चित्र है। इन दोनों कृतियों में पहली ही अधिक भावगम्य और चित्रोपम है। उसमें चाँदनी को रुग्ण-बाला के रूप में अङ्कित किया है—

जग के दुख दैन्य शयन पर
यह रुग्णा-जीवन बाला
रे कब से जाग रही वह
आँसू की नीरव माला।
पीली पड़ निर्बल कोमल
कृश देह लता कुम्हलाई,
विवसना लाज में लिपटी
साँसों में शून्य समाई !

'विहग के प्रति' कृति में कवि का आत्म-सन्तोष झलकता है। अपनी युवावस्था ही में कवि देखता है कि—सुप्त हिन्दी-जगत में उसने एक साथ जीवन प्राण फूँक दिया है—तो उसका हृदय सन्तोष से परि-पूर्ण हो जाता है—

सुप्त जग में गा स्वप्निल गान
स्वर्ण से भर दी प्रथम-प्रभात,
मञ्जु गुञ्जित हो उठा अजान
फुल्ल जग-जीवन का जलजात।

इस कविता में कवि का अपनी कला के विषय में संकेत मिलता है। वह कहता है—

सहज चुन-चुन लघु तृण, खर, पात,
नीड़ रच-रच निशि-दिन सायास

छा दिये तूने, शिल्पि सुजात,
जगत की डाल-डाल में वात !

अन्त में सर्वांशेन दृष्टिपात करने पर हमें गुञ्जन में कवि का दिशान्तर-प्रयास स्पष्ट दृष्टिगत हो जाता है। विचारों की दृष्टि से भी पल्लव का जीवन के प्रति करुणा क्लिष्ट भाव गुञ्जन में नहीं मिलेगा—धीरे-धीरे वह अब जीवन में आनन्द का अनुभव करने लगता है। निराशा एक साथ आशामय होकर बोल उठती है, और वह कहता है—

है जगजीवन के कर्णधार,
चिर जन्म-मरण के आर पार
शाश्वत जीवन नौका विहार !
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान,
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्वदान !

वास्तव में पल्लव की वह कलकण्ठ पुकार गुञ्जन में आकर संयत हो जाती है। चिन्तन एक प्रकार से अनुभूति को दबा लेता है। गुञ्जन की कविताए मनन की वस्तु हैं। इसी कारण वे एक साथ हृदय को स्पर्श नहीं करतीं।

पन्तजी ने पल्लव की भूमिका में भाषा के विषय में एक स्थान पर लिखा है—जिस प्रकार बड़ी चुवाने से पहले उड़द की पीठी को मथ कर हलका तथा कोमल कर लेना पड़ता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप में, भावों के ढाँचों में ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताव में गला कर कोमल, करुण, सरस, प्राञ्जल कर लेना पड़ता है। वास्तव में गुञ्जन की भाषा का इससे अधिक सच्चा वर्णन और नहीं हो सकता। कवि ने अपने चिन्तन और भावुकता के ताप मे भाषा को गला कर पूर्णतया मृदुल बना दिया है। इससे उसकी महाप्राणता तो अवश्य नष्ट हो गई है परन्तु फिर भी उसमें एक रेशमी मार्दव अवश्य आगया है। इसी कारण पल्लव की अपेक्षा गुञ्जन में पन्तजी की कला हलके तितलियों के पङ्ख लेकर उड़ी है। उसमें पङ्खों की वह सरसराहट नहीं है जो अत्यन्त सजीवता की द्योतक है। उसके रङ्ग भी इतने चटकीले न रह कर सिल्किन (Silken) हो गये हैं।

इन सभी बातों के कारण गुञ्जन के पाठक को आरम्भ में कुछ निराशा सी होती है—जो कि प्रत्येक मनन की वस्तु के प्रथम-परिचय में हुआ करती है। वास्तव मे पल्लव से गुञ्जन को ऊँचा स्थान देना तो कदापि सम्भव न होगा—परन्तु यह दूसरी दिशा में कवि का प्रयाण है—इसलिए जीवन का द्योतक है। अस्तु—

'ज्योत्स्ना'

गुञ्जन के उपरान्त १९३४ ई० में पन्तजी ज्योत्स्ना नाटिका मे प्रकट हुए। कविवर निराला के शब्दों में ज्योत्स्ना में उनका पहला प्रिय भावमय श्वेत वाणी का कोमल कवि रूप ही दृष्टिगोचर होता है, नाटककार का नहीं। गुञ्जन में हमने देख लिया था कि कवि की काव्य-धारा किस प्रकार प्राकृतिक क्षेत्र में अवतरित हो गई थी और अब वह दार्शनिक सत्यो की ओर झुक गया था। इसी विचार-धारा का विकसित स्वरूप ज्योत्स्ना में मिलता है। ज्योत्स्ना पाश्चात्य Allegory के ढङ्ग का रूपक है जिसमें अमूर्त्त भावनायें एवं विचार मूर्त्त पात्रों के रूप मे प्रकट होकर किसी सिद्धान्त विशेष की स्थापना करते हैं। इस प्रकार के काव्यों में सिद्धान्त की प्रधानता होने के कारण उनका रूप शिक्षा-प्रधान (Didactic) हो जाता है। इसी कारण उनकी गणना उत्कृष्ट काव्यों में नहीं होनी चाहिए—परन्तु फिर भी लेखक की व्यक्तिगत प्रतिभा का स्वतन्त्र महत्त्व तो होता ही है और वह किसी भी रूखे-सूखे विषय को अपने दिव्य प्रकाश से चमका देता है। स्पैंसर की फेअरीकीन भी तो (Allegory) है न ! प्रसादजी की 'कामना' नाटिका का भी कम महत्त्व नहीं है।

हाँ, तो ज्योत्स्ना भी उपरोक्त प्रकार का रूपक है। पन्तजी ने आधुनिक संसार की समस्याओं को सुलझाने के लिए कुछ मौलिक सिद्धान्तों की सृष्टि की है और उन्हीं की वाहिका-स्वरूप यह मून-शाइन है। इसकी कथावस्तु बहुत मामूली है—लगभग नहीं के बरा-बर। संसार में सर्वत्र ऊहापोह और घातक-क्रान्ति देखकर इन्दु उसके शासन की बागडोर अपनी महिषी ज्योत्स्ना को दे देता है। स्वर्ग से भू पर आकर पवन और सुरभि अथवा स्वप्न और कल्पना की सहा-यता से संसार में प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक,

जीवन का नवीन आदर्श स्थापित कर देती है। यही कथा पाँच अंकों में कही गई है। पहले अंक में सन्ध्या और छाया का पारस्परिक वार्त्तालाप सूचना देता है कि इन्दु अपने शासन की बागडोर बहू ज्योत्स्ना को देना चाहता है और साथ ही संकेत करता है कि संसार में स्वर्ग उतर आयेगा। दूसरे में विलासी इन्दु और संयता विश्व प्रेमिका ज्योत्स्ना अपने पूर्ण वैभव के साथ उपस्थित होते हैं। इन्दु ज्योत्स्ना को भू-लोक के शासन की बागडोर दे देता है और उसे संसार में स्वर्ग उपस्थित करने की प्रेरणा करता है, कथानक इस प्रकार विकसित होता है। तीसरे अंक मे ज्योत्स्ना पवन और सुरभि के साथ मर्त्यलोक में आ जाती है। और संसार की स्थिति पूछने पर पवन उसके समक्ष आधुनिक युग का एक बड़ा ही सशक्त और सुन्दर चित्र उपस्थित करता है। वह बतलाता है कि एक ओर धर्मान्धता, अन्ध विश्वास और जीर्ण रूढ़ियो से संग्राम चल रहा है, दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह शृङ्खला की तरह जकड़े हुए हैं। बुद्धि का अहंकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढ़ कर मनुष्य के देवत्व प्रिय स्वभाव, एवं आदर्श-प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोक से छेद रहा है। इतने ही में मर्त्यलोक के दूत के रूप में झींगुर का कर्कश स्वर सुनाई देता है जो पवन के विश्लेषणात्मक वर्णन का संश्लिष्ट रूप में समर्थन करता है—

जो है समर्थ, जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे।
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य संसार उसे।

इस बेसुर आलाप को सुन कर ज्योत्स्ना की सहानुभूति एक साथ उत्तेजित हो जाती है। वह पवन और सुरभि पर हाथ फेर कर उन्हें स्वप्न और कल्पना का रूप दे देती है और फिर उनको आज्ञा दे देती है कि काव्य, संगीत, शिल्प—एक शब्द में—कला द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवी मूर्तियों को स्थापित करें और उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करें। स्वप्न और कल्पना उसकी आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने उपायों (Designs) का एक छाया प्रदर्शन

उपस्थित करते हैं—बस वे—स्वप्न और कल्पना सुप्त मनुष्य जाति के मनोलोक में प्रवेश कर मनुष्यों में नवीन संस्कार एवं भावनाएँ जागृत करते हैं। फलतः नवयुग का निर्माण करने के लिए कोमल और स्वस्थ मानसी भावनाएँ प्रकट होती हैं, जिनके नाम हैं—भक्ति शक्ति, दया सत्य, श्रेय, समतानुराग, साधना, धर्म, निष्काम कर्म, करुणा, ममता, स्नेह कला आदि, आदि। इनके प्रसार से मर्त्यलोक की कायापलट जाती है और वह विश्व-बन्धुत्व की स्थापना द्वारा एक आदर्श गृहस्थ का रूप धारण कर लेता है। इसी में पन्तजी की सामाजिक, राजनैतिक, कला और सदाचार सम्बन्धी भावनाओं के प्रतिरूप भिन्न-भिन्न स्त्री पुरुष उपस्थित होते हैं और अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करते हैं।

इसके उपरान्त ज्योत्स्ना अपना कार्य समाप्त कर पुनः स्वर्गलोक को प्रयाण कर देती है और चौथे अङ्क में छाया और उल्लू देखते हैं कि सत्प्रवृत्तियों का अधिक प्रचार बढ़ जाने पर प्रयोजन न रहने के कारण असत्प्रवृत्तियाँ अनेकों कदाकार कुरूप वेश धारण कर धीरे-धीरे तम में विलीन हो रही हैं। लवा पक्षी आगामी प्रभात की सूचना देता है। पाँचवाँ अङ्क अब इस दुर्धर और भयङ्कर अन्धकार के उपरान्त एक साथ प्रकाश विकीर्ण कर देता है। ऊषा का आगमन संसार में स्वर्ग ला देता है। ओस, तितली, लहर आदि सभी में सुख का संगीत फूट निकलता है। इस प्रकार उपर्युक्त कथानक का एक विकास तो अवश्य है परन्तु उसका तानाबाना वायवी होने के कारण यह विकास स्पष्ट लक्षित नहीं होता।

पन्तजी ने जो विकसित मानववाद और काल्पनिक समाजवाद के सामञ्जस्य द्वारा अपना नया स्वर्ग निर्माण किया है, उसी का उन्होंने इस नाटिका में आख्यान किया है। इसका सारांश यह है कि 'जिस प्रकार यह पृथ्वी बाहर से एक है उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट संस्कृति की आवश्यकता है।' कवि की सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक प्रेम एवं कला सम्बन्धी भावनाएँ इस रूपक में बड़े स्पष्ट रूप से मिलती हैं। इनकी ओर संकेत पन्तजी की विचारधारा शीर्षक लेख में किया जा चुका है। ये सभी विचार प्रौढ़ चिन्तन और अध्ययन के फलस्वरूप हैं और बड़े सशक्त शब्दों में अभिव्यक्त किये गये हैं।

नाटक की दृष्टि से देखने पर जैसा कि वस्तु विकास से स्पष्ट है यह कृति सर्वथा असमर्थ है क्योंकि इसमें न कार्य (Action) का कहीं पता है, न कहीं चरित्र विकास का। यद्यपि इन्दु, ज्योत्स्ना, पवन और दूसरे भक्ति आदि पात्र काफी स्पष्ट हैं परन्तु वे भावनाओं के पुलन्दे है। उनका व्यक्तित्व मांसल नहीं।

वार्तालाप की भी यही दशा है। इन वायवी पात्रों का वार्तालाप बड़ा गम्भीर, ठोस और सैद्धान्तिक होते हुए भी हमें वार्तालाप के रूप में तनिक भी आकृष्ट नहीं करता। उसमें एक अनावश्यक स्थिरता है। कहीं उल्लू आदि की दो एक बातें चापल्य लिये हुए हैं। तीसरे अङ्क में वेदव्रत, सुलेमान, हेनरी की बातें सुन कर तो लगभग सभी पाठकों को यही कहना पड़ता है—कि आप दार्शनिक हैं—इन जटिल पहेलियों को आप ही समझ सकते हैं।' इसी कारण (Action) का इसमें नाम तक नहीं—रूपक में वैसे भी होता ही कम है।

परन्तु ज्योत्स्ना का मूल्य इस दृष्टि से नहीं हैं। उसके महत्त्व का अनुभव करने के लिए हमें देखना चाहिये उसका दृश्यविधान, उसके गीत और अन्त में उसका दार्शनिक उद्देश्य।

दृश्यों के चित्रण में पन्तजी ने अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। कवि की सूक्ष्म दृष्टि और चितेरी कल्पना ने सन्ध्या, ज्योत्स्ना, छाया, झींगुर, और एक प्रकार से सभी काव्यगत अमूर्त्त वस्तुओं का बड़ा ही सजीव एवं सच्चा चित्रण किया है। प्रत्येक चित्र व्यञ्जना की सहायता से अपूर्व सत्यता लिये हुए है। दृश्यविधान ज्योत्स्ना का-सा मेरे विचार में और किसी नाटक में कठिनता से मिलेगा।

कुछ दृश्य देखिये—सबसे पूर्व सन्ध्या का एकान्त निवास दृष्टिगोचर होता है, उसका अवलोकन कीजिए—'सिन्दूरी रङ्ग के अस्ताचल पर गेरू की ईटों से निर्मित, सन्ध्या का एकान्त निवास। उत्तर, दक्षिण, पूर्व की ओर तीन बड़े-बड़े वृत्त-चूड़ झरोखे, जिसमें हलके धानी रङ्ग के परदे दूरवर्ती दिगन्त का आभास दे रहे हैं। पश्चिम की ओर प्रवाल का विशाल प्रवेशद्वार जिसके ऊपरी भाग में लाल पोतों की अर्धवृत्त लड़ियाँ झूल रहीं हैं। आसमानी रेशम की छत पर, इधर-उधर साँझ के बादलों की टुकड़ियों की तरह, गुलाबी रेशमी

जालियाँ लटकी हैं, बीच-बीच में पक्षियों के दो तीन उड़ते हुए चित्र कढ़े हैं'—

दूसरा दृश्य ज्योत्स्ना और इन्दु के शयनागार का है। देखिये उसमें किस प्रकार चाँदनी और चाँदी बिखरी पड़ी है—

'रात्रि का प्रथम प्रहर। इन्दु का विशाल, अष्टकोण नीलम का अन्तःपुर, नीहार की आसमानी छत पर जाज्वल्यमान मणि-रत्नों का नक्षत्र लोक अविराम-लय में घूमकर शीतल प्रकाश विकरण कर रहा है। वायु-मण्डल में मधुर झङ्कारों की तरह विद्युत रेखाएँ लहरा कर विलीन हो रही हैं। शीश की विशाल शिलाओं से खचित दीवारों के निम्न भागों में एक ही आकृति अनेक प्रतिच्छवियों का रूपाभास प्रतिफलित करती है। ऊपरी भाग में, प्रवाल के फ्रेमों में सुराङ्गनाओं के पूर्णाकृति निरावृत चित्र टँगे हैं।'

इन विलासमय दृश्यों के अतिरिक्त कुछ भयङ्कर दृश्यों का अङ्कन भी किया गया है। चौथे अङ्क का परिवर्तित दृश्य एक दम सजीव है। इससे भी अधिक कौशल कवि ने अमूर्त्त वस्तुओं और भावनाओं के बाह्य चित्र अङ्कित करने में दिखाया है। अपने एकान्त निवास मे बैठी चिन्ता मग्न सन्ध्या की एक झाँकी देखिये—'........ जिस पर गेरुये मलमल की धोती पहने प्रौढ़ उम्र सन्ध्या, निष्कम्प दीप-शिखा की तरह दत्त-चित्त बैठी है। मृणाल सी लम्बी, पतली, खुली बाहें, वक्षस्थल के साँझ के सरोज बारीक सुनहली कंचुकी से कसे, दमकते भाल पर दो एक चिन्ता की रेखाएँ; भौंहें पतली, कुछ अधिक झुकी हुई—स्निग्ध शान्त आनन; शान्त गम्भीर मुद्रा, कपोलों, कन्धों एवं पृष्ठ भागों पर रुपहले, सुनहले बाल बिखरे।'

आपने सुरभि का मधुर अनुभव तो न जाने कितनी बार किया होगा उसका मूर्त्त स्वरूप भी देखिए—

'बाईं ओर पुष्पों के हृदय से उच्छ्वसित दुर्निवार कामना-सी सुरभि, पुष्पों की चटकीली पङ्खड़ियों से लदी, लालसा से लाल पल्लवों की चोली पहिने, मदिर गन्ध निर्गत करती केसरी अलकों में रजनी गन्धा की माला बाँध रही है।'

आगे अपने चिर-परिचित झींगुर पर भी तो क दृष्टिपात कीजिए: 'ताँबे का सा रंग, दृढ़ पुट्ठे, लौह-तार सी नाड़ियाँ सख्त

चौड़ा पंजा, न मुड़ने वाली अँगुलियाँ, काँच की-सी चमकीली भाव-शून्य आँखें, मोटे ओठ, तीर सी तनी लम्बी-लम्बी बँटी मूँछें।........ इसके कन्धे पर लोहे की बुनी जाली, कलाइयों पर लोहे के पट्ठे बँधे हैं।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि पन्तजी ने "स्वप्नों के वायवी सौन्दर्य को स्थूल वास्तविकता के पाश में बाँध कर जो कार्य किया है वह असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है।" ज्योत्स्ना में अनेक प्रकार के गीत मिलेंगे। कहीं छाया का अलसाया हुआ गीत है तो कहीं पवन का सनसन गान है; ताराओं का गीत यदि टिमटिमाता है, तो किरणों का प्रकाश चञ्चल है। एक ओर ओस का चटुल तराना है तो कहीं झींगुर का पशु-वृत्तियों से प्रेरित कर्कश गान। वास्तव में ज्योत्स्ना के सभी गाने प्रतीकात्मक हैं। उनमें नायक के बाह्य और अन्तर का पूर्ण सामञ्जस्य मिलता है। साथ ही व्यञ्जना की सहायता से वे पात्रों के मुख उचित रूप से फिट भी कर दिये गये हैं। इन सभी गीतों में पन्तजी के भावों की सुकुमारता, कल्पना की सूक्ष्म ग्राहकता और शाब्दिक शक्ति की चित्रमयता का पूर्ण प्रमाण मिलता है। साथ ही उन सभी में नाटकोचित सङ्गीत धारा भी है। तनिक जुगुनुओं का गीत तो सुनिए—देखिए किस प्रकार उनमे जुगुनुओ की सी जगमग है—

जग मग जग मग, हम जग का मग
ज्योतित प्रति पग करते जग मग

× × × ×

चञ्चल चञ्चल, बुझ बुझ जल जल,
शिशु उर पल पल, हरते छल छल!

आगे प्रकाश मूर्तियों का गीत लीजिए—एक अपूर्व प्रकाश-प्रवाह के अतिरिक्त उसमें दार्शनिक गाम्भीर्य भी अक्षय है—

चिन्मय प्रकाश से विश्व उदय
चिन्मय प्रकाश में विकसित लय,

× × × ×

चिर महानन्द के पुलकों से
झर-झर नित अगणित लोक-निचय

नाचते शून्य में समुल्लसित
बन शत-शत सौर-चक्र निर्भय !

सुखी कृषकों का गाना भी कितना स्वस्थ है—

गूँजे जयध्वनि से आसमान
सब मानव मानव हैं समान !
निज कौशल, मति इच्छानुकूल
सब कर्म-निरत हो भेद-भूल
बन्धुत्व भाव ही विश्व मूल
सब एक राष्ट्र के उपादान !

अन्त में एक गाना लहरों का और सुनकर इस प्रसङ्ग को समाप्त कीजिए—

अपने ही सुख से चिर-चञ्चल,
हम खिल-खिल पड़ती हैं प्रतिपल !
चिर-जन्म-मरण को हँस-हँस कर
हम आलिंगन करती पल-पल
फिर फिर असीम से उठ उठ कर
फिर फिर असीम में हो ओझल !

अब दार्शनिक उद्देश्य रह गया। ज्योत्स्ना मे नाटक का ढाँचा ही कुछ सिद्धान्तों की व्यवस्था करने को ग्रहण किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से यह उद्देश्य बड़ा महान और दिव्य है, ज्योत्स्ना में कला, प्रेम, सत्य, शासन आदि-आदि अनेक जीवन-तथ्यों पर पन्तजी के अपने विचारों का बड़ा सुन्दर संकलन है। इनका निदर्शन विचार-धारा में हो ही चुका है। वास्तव में विश्व-कामना एवं मानव की महिमा से इतने ओत-प्रोत काव्य हिन्दी में अनेक नहीं हैं। इसकी दार्शनिक प्रौढ़ता और भव्यता अपूर्व है। आइए हम भी कवि के साथ गायें—

मंगल चिर मंगल हो
मंगलमय सचराचर,
मंगलमय दिशिपल हो।
तमस-मूढ़ हों भास्वर,
पतित क्षुद्र, उच्च-प्रवर,

मृत्यु भीत नित्य अमर
अगजग चिर उज्ज्वल हो।

युगान्त

'युगान्त' में पन्तजी सौन्दर्य युग का अन्त कर देते हैं। इससे पूर्व वे 'ज्योत्स्ना' और 'पाँच कहानी' लिख चुके थे। इस संग्रह की अधिकांश रचनाएँ १६३४–३५ की ही हैं—यद्यपि इनमें एक-आध कृति जैसे 'सन्ध्या' सन् १६३० की भी है। युगान्त की कविताएँ चिन्तन-प्रधान हैं। ३४-३५ में लिखी हुई प्रायः सभी कविताओं में दार्शनिक गांभीर्य मिलेगा—साथ ही इन समस्त कविताओं में एक सूत्र गुम्फित मिलेगा—एक अन्तर्धारा मिलेगी जो कवि के तात्कालिक विचारों और भावनाओं से सम्बन्ध रखती है। इन सभी में मानव-जगत की मंगलाशा ओत-प्रोत हुई है। पल्लव का करुणाक्लिष्ट भाव जो गुञ्जन में आकर, समझौते का रूप धारण कर चुका था युगान्त में आकर पूर्णतया मांगलिक कामनाओं का वाहक हो गया है। इन कृतियों में कवि जगत के जीर्ण उद्यान में मधु प्रभात लाने की शुभाकांक्षा बार-बार करता हुआ देखा जाता है। उसका करुणा तृप्त हृदय मानवहित से पूर्ण हो गया है। वह मानवता के विकास द्वारा जीवन की पूर्णता स्थापित करने की शुभेच्छाओं से आकुल है—

मैं झरता जीवन डाली से
साह्लाद शिशिर का शीर्ण पात
फिर से जगती के कानन में
आ जाता नव मधु का प्रभात।

वह बार-बार अपने गीत-खग से कहता है—

जगती के जन पथ कानन में
तुम गाओ विहग! अनादि गान.
चिर शून्य शिशिर पीड़ित जग में
निज अमर स्वरों से भरो प्राण!
× × ×
जो सोए स्वप्नों के तम में
वे जागेंगे—यह सत्य बात

जो देख चुके जीवन निशीथ
वे देखेंगे जीवन-प्रभात।

यही विचार-धारा युगान्त की प्राण-धारा है। कवि ने अधिकांश गीतों में इसी की नवीन-नवीन ढंग से अभिव्यञ्जना की है। युगान्त की कविताएँ इसी सन्देश से मुखरित हैं। प्रकृति की रंगस्थली को शतदल की भाँति सद्य स्मित देख, कवि का हृदय मानवता की दीन दशा का स्मरण कर एक साथ कह उठता है—

है पूर्ण प्राकृतिक सत्य! किन्तु मानव जग!
क्यों म्लान तुम्हारे कुञ्ज, कुसुम, आतप, खग?

इसका कारण भी स्पष्ट है—वह कहता है कि—

जो एक, असीम, अखण्ड, मधुर व्यापकता
खो गई तुम्हारी वह जीवन सार्थकता।

इसी अखण्ड और मधुर व्यापकता को फिर से मानव जग में देखने के लिये मंगलाशी कवि का हृदय व्याकुल है। देखिये वह किस प्रकार कोकिल से मनुहारें करता है—

गा, कोकिल, बरसा पावक कण!
नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण-पुरातन
ध्वंश-भ्रंश जग के जड़-बन्धन
पावक-पग धर आवे नूतन
हो पल्लवित नवल मानवपन।

युगान्त में पन्तजी की रचनायें पूर्णरूप से नैतिक (Ethical) हो गई हैं। वे प्रभु से प्रार्थना करते है—

जग जीवन में जो चिर महान
सौन्दर्य-पूर्ण और सत्य-प्राण
मैं उसका प्रेमी बनूँ नाथ!
जिसमें मानव-हित हो समान

परन्तु फिर भी उक्त भावनाएँ केवल शुष्क दार्शनिक विचार नहीं हैं। कवि का हृदय उनमें विभोर हो रहा है। इन कविताओं में आवेश और आवेग की कमी नहीं है, उनमें उन्मुक्तता पूरी है। एक दिन प्रातःकाल कवि देखता है कि—

वे डूब गए—सब डूब गए
दुर्दम, उदग्र-शिर अद्रि-शिखर
स्वप्नस्थ हुए स्वर्णातप में,
लो, स्वर्ण-स्वर्ण अब सब भूधर !

× × × ×

तुरन्त ही उसके हृदय में आशा का सञ्चार हो उठता है और वह एक साथ फूट पड़ता है :—

मानव-जग मे गिरि-कारा-सी
गत-युग की सस्कृतियाँ दुर्धर
बन्दी की है मानवता की
रच देश-जाति की भित्ति अमर
ये डूबगी—सब डूबेंगी
पा नव मानवता का विकास,
हँस देगा स्वर्णिम बज्र लौह
छू मानव आत्मा का प्रकाश ।

पहले पद में 'डूब गये' और दूसरे मे 'डूबेंगी' की पुनरावृत्ति हृदय के उभड़े हुए आह्लाद और आवेग की स्पष्ट व्यञ्जना कर रही है। यही बात इससे अगली कविता 'तारों का नभ, तारों का नभ' में है। हाँ, एकाध स्थान पर जब वे शुद्ध अद्वैतवाद का बखान-सा कर निकालते है तो कुछ शुष्कता आ जाती है—उदाहरणार्थ 'शत बाहु-पाद, शत नाम रूप' कविता मे। इससे आगे की भी दो कविताएँ दार्शनिक सत्य का व्याख्यान करती हैं, परन्तु कवि की कल्पना ने जो प्रभूत अलङ्करण-सामग्री (imagery) उन पर व्यय की है, उसने उनके शुष्क तापसी रूप को शकुन्तला बना दिया है। देखिए विश्व-सृजन के दृश्य का चित्रण कितना सुन्दर है—

गुँथ गये अजान तिमिर-प्रकाश
दे दे जग-जीवन को विकास,
बहु रूप-रङ्ग रेखाओ में
भर विरह-मिलन का अश्रु-हास।

इस संग्रह में दो एक आशीः वचन जैसी कृतियाँ भी हैं जो अपने ढङ्ग पर काफी सुन्दर हैं—

छवि के नव-बन्धन बाँधो
भाव रूप में, गीत स्वरों में,
गन्ध कुसुम में, स्मिति अधरों में,
जीवन की तमिस्र वेणी में,
निज प्रकाश-कण बाँधो।

'मानव' कविता में पन्तजी की मानव-पूजा मुखरित हो उठी है।

इस आध्यात्मिक गीत माला का सुमेरु है 'बापू के प्रति' कविता। वास्तव में कवि ने बापू में अपने आदर्शों का मूर्तिमान स्वरूप पा लिया है। अतः मानवपन का पूर्ण विकास उनमें उसे मिल गया है। इसी कारण इस कविता में उसका चिन्तन अनुभूति से प्रेरित होने के कारण बोल उठा है और अपनी अपूर्व मूर्ति विधायिनी कल्पना की सहायता से जो मूर्ति उसने गढ़ी है वह दिव्य है। इस कविता को विषयानुरूप कह देना इसका सबसे बड़ा गौरव है। अँग्रेजी ओड (ode) की शैली पर होने के कारण इसमें सम्बोधन (address) की प्रधानता है—और हमारे मनीषी कलाकार ने उनके चयन एवं निर्माण में अपूर्व कौशल और भावुकता का परिचय दिया है। पहले ही पद में कई विशेषण हीरे के सदृश्य जड़े हुए हैं—

तुम शुद्ध-बुद्ध आत्मा केवल—
× × ×
तुम पूर्ण इकाई जीवन की,
जिसमें असार भव शून्य लीन।

आगे कवि कहता है—

सुख भोग खोजने आते सब,
आए तुम करने सत्य खोज!
जग की मिट्टी के पुतले जन
तुम आत्मा के, मन के मनोज।

इस कृति में कवि ने बापू के सिद्धान्तों और कृत्यों का भी काव्यमय सुन्दर वर्णन किया है। देखिए महात्मा जी की चर्खा योजना का कितना विशद वर्णन है—

उर के चरखे में कात सूक्ष्म
युग-युग का विषय-जनित विषाद,

गुञ्जित कर दिया गगन जग का
भर तुमने आत्मा का निनाद।

× × ×

इसी प्रकार उनके एक-एक पद में उनके असहयोग आन्दोलन, अहिंसा, दार्शनिक, विज्ञान आदि का बड़ा कवित्वपूर्ण चित्रण किया है। सुनिये, कितने थोड़े शब्दों में कवि गांधी-दर्शन की व्याख्या करता है—

ये राज्य, प्रजा जन; साम्य तन्त्र,
शासन-चालन के मृतक यान।
मानस, मानुषी, विकास शास्त्र,
है तुलनात्मक, सापेक्ष ज्ञान।
भौतिक विज्ञानों की प्रसूति
जीवन–उपकरण–चयन—प्रधान।
मथ सूक्ष्म–स्थूल जग, बोले तुम—
मानव मानवता का विधान।

अन्त में आइये हम भी कवि के साथ बापू को श्रद्धापूर्वक नमस्कार करलें।

आए, तुम मुक्त पुरुष, कहने—
मिथ्या जड़ बन्धन, सत्य राम,
नानृतं जयति, सत्यं मा भैः,
जय ज्ञान ज्योति, तुमको प्रणाम।

इन कविताओं के अतिरिक्त युगान्त में कुछ कृतियाँ कवि के जन्मसिद्ध प्रकृति प्रेम की व्याख्या करती हैं। वे हैं बसन्त, तितली, संध्या, शुक्र, छाया, बाँसों का झुरमुट आदि। युगान्त में कवि का प्रकृति के प्रति भी दृष्टिकोण कुछ बदल गया है। इन कृतियों में प्राकृतिक दृश्यों के एन्द्रिय चित्रण न मिलेंगे। कवि तो अब बाह्य प्रकृति की अन्तरात्मा पहिचानने लगा है इसीलिए इन प्रकृति विषयक कविताओं में आन्तरिकता अधिक है। साथ ही इनके सभी दृश्य हर्षोत्फुल्ल और आह्लादपूर्ण हैं और इसीलिए उनके रङ्ग चटकीले और गहरे हैं। बसन्त चित्रों के कुछ रङ्ग देखिए—

पल्लव पल्लव में नवल रुधिर—
पात्रों में मांसल-रङ्ग खिला
आया नीली-पीली लौ से
पुष्पों के चित्रित दीप जला !

× × × ×

कलि के पलकों में मिलन स्वप्न,
अलि के अन्तर में प्रणय गान,
लेकर आया, प्रेमी बसन्त,
आकुल जड़ चेतन स्नेह-प्राण

—बसन्त का चित्र अत्यन्त भावमय होगया है। आगे अल्मोड़े का बसन्त तो देखिये कितना सजीव है—

लो, चित्र शलभ-सी पङ्ख खोल,
उड़ने को है कुसुमित घाटी,
यह है अल्मोड़े का बसन्त,
खिल पड़ी निखिल पर्वत पाटी !

दूसरी पंक्ति में अनुभूति बोल रही है। 'छाया' पर लिखी दोनों कविताएँ अनमोल हैं—उनमें पहली शुद्ध भावमय गीति का उदाहरण है—दूसरी में दार्शनिकता और चिन्तन का प्राधान्य है। छाया की गहनता का चित्रण अत्यन्त व्यञ्जनापूर्ण है।

पट पर पट केवल तम अपार !
पट पर पट खुले न मिला पार !

इसके उपरान्त ही 'शुक्र' कविता पाठक की बढ़ती हुई दृष्टि से एक साथ चमक कर 'कौन' कह उठती है—

द्वाभा के एकाकी प्रेमी
नीरव दिगन्त के शब्द मौन।
रवि के जाते, स्थल पर आते,
कहते तुम तम से चमक कौन ?

अन्तिम पंक्ति में पन्तजी की सूक्ष्म ग्राहिणी दृष्टि और मूर्त्तिमती कल्पना एक साथ सजग हो उठी हैं। 'तितली' में तितली का सा ही चटकीलापन और चाञ्चल्य है। उनके दो एक विशेषणों की सांकेतिकता पर विचार कीजिए—

तुमने यह सुमन-विहग लिवास
क्या अपने सुख से स्वयं बना ?

× × × ×

क्या बाहर से आया रंगिणि
उर का यह आतप, यह हुलास,
या फूलों से ली अनिल-कुसुम,
तुमने मन के मधु की मिठास !

'सुमन-विहग' और 'अनिल-कुसुम' से अच्छा तितली का और क्या वर्णन हो सकेगा।

युगान्त में कवि की कला और शैली में भी एक साथ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। गुञ्जन में जो कला तितली के पङ्ख लेकर उड़ी थी वह युगान्त में आकर मांसल हो गई है। उसके लघु-लघु गात अब पृथु और बलिष्ठ हो गए हैं। जैसा कवि ने स्वयं लिखा है—युगान्त में पल्लव की कोमल कान्त कला का अभाव मिलेगा। भाषा में ज्योत्स्ना के गीतों की रुनझुन नहीं है। उसमें है एक सबल ओज। कवि को यहाँ अनावश्यक काट-छाँट (Chiselling) करने की आवश्यकता नहीं पड़ी, इसलिए युगांत की भाषा में वांछित महाप्राणता है। उसकी व्यञ्जना-शक्ति अत्यन्त विकसित और सशक्त है। गुञ्जन और ज्योत्स्ना के गीतों के उपरान्त पन्तजी की सुकुमार भाषा में यौवन की नहीं—प्रौढ़ता की 'माँसल स्वस्थ गंध' आ गई है—उनके स्नायुओं में अब यथेष्ट काठिन्य आ गया है। ज्योत्स्ना के गद्य और युगान्त के गीतों में भाषा की दृष्टि से एक विशेष साम्य है। सारांश यह है कि कवि की नारी-कला पौरुषमय हो गई है।

अन्त में युगान्त में कवि ने जिस 'नवीन क्षेत्र को अपनाने की चेष्टा की है, हमें विश्वास है कि भविष्य में वे उसे अधिक परिपूर्ण रूप में ग्रहण एवं प्रदान कर सकेंगे।'

उपसंहार

पन्तजी ने एक विशेष-परिस्थिति में काव्य-साधना आरम्भ की थी। उस समय काव्य क्षेत्र में जागृति के लिए कुलबुलाहट हो रही थी। ठीक इसी समय प्रसादजी और उनके कुछ ही उपरान्त कविवर निराला और हमारे पन्तजी ने इस जागृति का मन्त्र फूँका—जागृति से मेरा तात्पर्य राष्ट्रीय जागृति से नहीं, यहाँ तात्पर्य शुद्ध साहित्यिक जागृति से है। मेरे इस कथन से कविवर हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त के प्रति अन्याय की कोई सम्भावना नहीं। वास्तव में उन्होंने तो इस क्षेत्र में बड़ा परिवर्तन और प्रवर्तन कर दिया था परन्तु उनके आदर्श प्राचीन ही थे। हिन्दी के रोमान्टिक युग के सूत्रधार यही कवि त्रय हैं। इन उदीयमान युवक कवियों ने सबसे पहला और बड़ा कार्य यह किया कि हिन्दी कविता को मानसिक अकर्तृत्व या निर्लेपता (Mental passivity) की उलझन से निकाल कर हृदय की चिर-उर्वरा भूमि में ले आए। आत्म-व्यञ्जना (Subjectivity) की पुकार करने वाले ये पहले कवि थे। ऊषा की छवि में विश्व-कामिनी की मुस्कान, तारों में जीवन के लेख, और चाँदनी में रात्रि का अभिसार सबसे पहले इन्हीं कवियों ने देखा और प्रकृति के स्पन्दन से अपने हृदय के स्पन्दनों का स्वर मिलाया। विकास के साथ तीनों के व्यक्तित्व स्वभावानुसार तीन पृथक धाराओं में बह निकले। प्रसाद का क्षेत्र हृदय-प्रेम, निराला का दार्शनिक भाव-जगत, और पन्तजी का प्रकृति और मानव का सम्पर्क तथा कला क्षेत्र पर प्रभुत्व हुआ। उन्होंने हिन्दी कविता-धारा को एक रूढ़ि (Rut) से हटा कर एक नवीन दिशा की ओर प्रवाहित किया। उन्होंने ही वास्तविक गीत-काव्य की कला का विकास-विवर्धन किया।

पन्तजी मननशील (Conscious) कवि हैं। अन्तःप्रेरणा तो सभी सत्कवियों में होती है और वह हमारे कवि में किसी अन्य कवि से कम नहीं—परन्तु जहाँ तक मननशीलता का सम्बन्ध है—यहाँ इसका एक विशेष स्थान है। पन्तजी चिन्तनशील कवि हैं—वे अपने

सभी भावों को सभी विचारों और अनुभवों को चिन्तन के ताप में गला-गला कर ऐसा एकसार और तरल बना लेते हैं कि वे विना प्रयास के भाषा में बह निकलते हैं। इसी कारण मेरे विचार में इतना शान्त आत्म प्रच्छन्न और संयत कवि हिन्दी में कोई नहीं। यह कवि अत्यन्त सूक्ष्म-निरीक्षक, व्यापक-विचारवान और गम्भीर भावज्ञता-समन्वित है—परन्तु उसके चिन्तन ने उसे ऐसा अपूर्व संयम प्रदान कर दिया है कि वे सभी गुण अपने में लीन हो गये हैं। इसी कारण स्थूल भावुकता (Sentimentalism) पन्त में नहीं और उसके काव्य और प्रतिभा का परिज्ञान प्राप्त करने के लिए एक सूक्ष्म और अन्त-प्रवेशिनी भावुकता की आवश्यकता है। वास्तव में एक बार पढ़ने से ही पन्तजी की कविता का आस्वादन नहीं हो सकता—उसका तो "ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैनन त्यों-त्यों खरी निकसे-सी निकाई" के अनुसार मनन करना पड़ेगा। यह चिन्तन-मूलक आत्म-संयत सूक्ष्मता पन्तजी की अपनी विशेषता है। यह तो रही उनकी आन्त-रिक काव्य-साधना। जहाँ तक कविता की बाह्य सज्जा और अलङ्कार-साधना का सम्बन्ध है वहाँ तक तो पन्त-विकासशील होते हुए भी अपने में पूर्ण हैं। कलाकार की दृष्टि से पन्तजी का हिन्दी में स्थान सर्वोच्च है। हिन्दी कविता को उन्होंने एक नवीन भाषा, नवीन रूप-रेखा और नवीन कला प्रदान की है—उन्होंने खुले रूप में हिन्दी कला की मूर्ति गढ़ी है। वे हिन्दी के सुन्दरतम कलाकार हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं कर सकता—और हाँ, उन्होंने जिस नवीन मार्ग को अपनाया है उससे यही आशा होती है कि वे महान् कलाकार के रूप में भी अवतरित होंगे। वे सुन्दर के कवि हैं—भविष्य में शिवं, सत्यं और विराट के कलाकार होकर हिन्दी को गौरवान्वित करेंगे—ऐसी आशा सर्वथा सुसङ्गत है। वे इस ओर प्रयासशील हैं—

मैं सृष्टि एक रच रहा नवल।

उत्तरार्द्ध

१६४०

आज की हिन्दी कविता और प्रगति

राजनीति में जिन प्रवृत्तियों ने गान्धीवाद को जन्म दिया, करीब-करीब वैसी ही प्रवृत्तियों द्वारा साहित्य में छायावाद का प्रादुर्भाव हुआ। दोनों की मूल-वर्तिनी भावना एक है।—स्थूल के विरुद्ध सूक्ष्म की प्रतिक्रिया अर्थात् स्थूल से हटकर सूक्ष्म की ओर बढ़ने और उसको प्राप्त करने का प्रयत्न। गांधीजी के साथ आत्मा की वस्तु बनकर यह प्रवृत्ति आध्यात्मिक बन गयी, उधर रवीन्द्र के साथ हृदय में रँग कर उसने छायावाद का रूप धारण किया। गत वर्षों में जिस प्रकार गांधीवाद के प्रति लोगों को यह आशङ्का होने लगी कि वह आत्मा की ओर अत्यधिक जाता है और शरीर का तिरस्कार करता है—अर्थात् वह हमारे जीवन के स्थूल सत्यों से दूर है, इसी प्रकार छायावाद के सूक्ष्म अन्ततंत्वों से भी लोगों को निराशा होने लगी। उसके वायवी तानेबाने ने, उसकी परी देश की कोमल कल्पनाओं ने, उसकी अमूर्त सौन्दर्य-भावना ने मन को गुदगुदाया तो अवश्य पर उसे तृप्त करने का साधन उसके पास नहीं था—उससे मन न भर सका। कवि पन्त को अपने जीवन के प्रभात में जो आशङ्का हुई थी—

> 'अनिल-कल्पित कमल कोमल गात को।
> अङ्क भर कर रसिक ! किसकी चाह की ॥ (ग्रन्थि)

वह तृप्त हुई ?

वही बात हुई और स्थूल ने एक बार फिर सूक्ष्म के विरुद्ध विद्रोह किया। यह प्रतिक्रिया दो रूपों में व्यक्त हुई—एक तो छायावाद की पलायन-वृत्ति (Escapist mentality) के विरुद्ध, दूसरी उसकी अमूर्त-उपासना के विरुद्ध। ऊपर से देखने से इन दोनों में कुछ अन्तर प्रतीत होता है, पर वास्तव में इनका अन्तर्तत्व एक ही है। जब मूर्त का

सामना करने की शक्ति मनुष्य में नहीं होती, तभी वह अमूर्त की ओर जाता है। अतः यह भी एक प्रकार से पलायन ही है। फिर भी दोनों का विकास दो रूपों में होने के कारण इन दोनों को हम कुछ देर के लिए पृथक मान लेंगे। इन्हीं दोनो प्रवृत्तियों का सम्मिलित रूप आज प्रगतिवाद के नाम से पुकारा जाता है। इस समय कविता के संकुल ध्वनि-समूह में सबसे अधिक वेग इसी धारा में है। अतः इसकी विवेचना ही पहिले सङ्गत होगी।

प्रगतिवाद—अभी प्रगतिवाद अपनी निश्चित रूप-रेखा नहीं बना सका। समय भी थोड़ा ही हुआ है। अब तक उसकी गति विधि का अध्ययन करने पर निम्नलिखित धारणायें स्थिर होती हैं:—

१—जीवन प्रगति का ही पर्याय है, अतः उसे प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नवान रहना चाहिए।

२—जीवन जीने की वस्तु है, उससे आँख मिला कर खड़ा होना पुरुषत्व है, न कि किसी काल्पनिक सुख की खोज में उससे भागना। जो कुछ सामने है—प्रत्यक्ष—वही सत्य है, अतएव भौतिक जीवन की साधना जीवन में मुख्य है। उससे परे अध्यात्म, परलोक कुछ नहीं। वे केवल पलायन के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं।

३—साहित्य का प्राण है सौन्दर्य और सौन्दर्य का आधार है साम्य। यह साम्य जीवन में पाना चाहिये। इसके लिए आवश्यक है कि समाज में साम्य स्थापित हो। अतः प्रगतिवाद दलितों, पीड़ितों एवं शोषितों की व्यथा को मुखर करता है। जीवन की रूढ़ियों में खोई हुई मानवता को ढूँढ़ निकालना उसका लक्ष्य है। इस मार्ग में बाधक होने वाले शोषक वर्ग से उसका विरोध है। वह उसका उन्मूलन करना चाहता है। चिर-बन्दी मानव को मुक्त करने के लिये वह रूढ़िग्रस्त प्राचीन को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहता है।

४—परन्तु शोषक-वर्ग की अतुल सहायक शक्ति है—प्राचीन संस्कृति, अतः उसका पुनर्निर्माण अनिवार्य है। उसके लिए आदर्श (मूल्य) बदलने पड़ेंगे। गत युग का सत्य, शिव, सुन्दर आज निर्जीव है। पिछले सभ्य, शिष्ट और संस्कृत विशेषण आज मन को कुत्सित लगते हैं, क्योंकि उनके पीछे बुर्जुवा (अभिजात वर्ग की)-या फ्यूडल

(सामन्तीय) प्रेरणाएँ थीं। उनके मूल में अधिकार-भावना थी। इसीलिए उनके कारण जनता का शोषण और धनपतियों की वृद्धि होती रही। अब तो हमारे मूल्यों का माप केवल एक हो सकता है—जनहित! "धर्म नीति और सदाचार का मूल्यांकन है जन हित!" इस प्रकार इस विचार-धारा पर पश्चिम के मार्क्स दर्शन और फ्रायड के मनोविज्ञान का काफी प्रभाव है। मार्क्स की साम्य दृष्टि और अर्थ दृष्टि तो भारत के कवि ने पकड़ ली है, पर आत्मा की सत्ता को एक दम अस्वीकृत करने का बल अभी उसमें नहीं आया! मार्क्स का देहात्मवाद अभी उसकी बुद्धि में नहीं बैठ सका। अतः इस विषय में वह अनिश्चित है।

५—संस्कृति के बदलने से स्वभावतः काव्य के आलम्बन भी बदलने चाहिए। अपने मानसिक सुख-दुख का विश्लेषण जिसमें प्राचीन संस्कृति की बू आती हो, आज के काव्य का विषय नहीं। जगत की प्रत्यक्ष समस्याओं से दृष्टि समेट अपने में ही उलझे रहना जीवन-शून्यता का चिह्न है। कलाकार का कर्त्तव्य है कि जिस समाज में वह रहता है, उसके प्रति अपने उत्तरदायित्व को पूरा करे; अर्थात् उसकी समस्याओं को सुलझाने में सहयोग दे—जिस देश की वह रोटी खाता है, उसका ऋण चुकावे। इस प्रकार प्रगतिवाद तत्त्व रूप में साहित्य को सामाजिक चेतना मानता है—शुद्ध व्यक्तिगत प्रतिक्रिया नहीं; 'सामूहिकता का निजत्व अब'। वह सौन्दर्य को हृदय अथवा आँखों में देखने की अपेक्षा सामाजिक कार्य में देखना अधिक उचित एवं श्रेयस्कर समझता है।

६—विदेश में प्रगतिशील कविता का जीवन के प्रति दृष्टिकोण मूलतः बौद्धिक माना गया है और वास्तव में यह उसकी अनिवार्य विशेषता भी है। परन्तु भारतवर्ष में अभी उसने निश्चित् रूप से वह दृष्टिकोण नहीं अपनाया। अभी प्रगतिशील कहे जाने वाले कुछ कवियों में भाव-प्रवणता का प्राचुर्य पाया जाता है। इसीलिए हिन्दी की प्रगति-कविता में उसे फिलहाल अनिवार्य नहीं माना जा सकता।

७—अनुभूति के साथ अभिव्यक्ति में परिवर्तन अनिवार्य है। जब विचार के उपकरण बदल गये तो अभिव्यञ्जना के उपकरण भी बदल जाने चाहिए। सबसे पूर्व तो कला के दृष्टिकोण में ही नवीनता

आई—'ललित कला कुत्सित कुरूप जग का जो रूप करे निर्माण।'—अतः दृष्टिकोण में यथार्थ दर्शन की भावना आई। उपकरणों की लघुता और महत्ता का काल्पनिक अन्तर मिट गया। 'धूलि, सुरभि, मधु रस, हिमकण' को छोड़ आज का कलाकार—

सिगरेट के खाली डिब्बे पन्नी चमकीली,
फोतो के टुकड़े तस्वीरें नीली पीली।

की ओर आकृष्ट हुआ क्योंकि आज के जीवन में वे अधिक सत्य हैं। वस्तु-दर्शन रोमांस चला गया। वस्तु का शुद्ध वास्तविक (Objective) चित्रण ही सच्चा है, कवि को अपनी भावनाओं का रङ्ग चढ़ा कर उसको विकृत कर देने का कोई अधिकार नहीं। गत युग का दृष्टिकोण था रोमाण्टिक। रोमाण्टिक दृष्टिकोण में वस्तु पर द्रष्टा की भावना का रङ्ग चढ़ जाता है, अतः उसका स्वरूप स्पष्ट नहीं होने पाता। आज का भूतदर्शी कलाकार इसे बुर्जुवा आर्ट कहता है। दूसरे आज मूल्याङ्कन भिन्न हो जाने से. सौन्दर्य का आदर्श बदल गया है। पुराना वासनायुक्त सौन्दर्य आज बासी हो गया है। आज तो जो प्रत्यक्ष है, जीवन-प्रद है, वही सुन्दर है।—एक शब्द में कला के उपकरण आज विलास, रूप, रोमांस और गरिमा नहीं रह गये। प्रगतिवादी पुरानी सौन्दर्य-कल्पनाओं को छोड़ वस्तु जगत की सत्यता को अपनाता है।

८—अब अनुभूति के माध्यम—भाषा और टेकनीक पर एक दृष्टिपात कीजिए। जिस प्रकार काव्य के उपकरणों में विशेष चयन की गुञ्जाइश नहीं रही, इसी प्रकार भाषा में भी वह नितान्त अवांछनीय है। "शब्द काव्योपयुक्त नहीं हैं"—यह विचार आज निर्मूल सिद्ध हो गया है। काव्य कोई निरपेक्ष वस्तु नहीं है, अतः इसकी शब्द योजना किसी विशेष प्रकार की हो, यह बिल्कुल जरूरी नहीं। प्रगतिवादी कविता में भाषा और टेकनीक का सीधा-सच्चापन ही मुख्य है—माधुर्य, ओज इत्यादि का उसके लिए कोई अर्थ नहीं।

इस प्रकार गत युद्ध के पश्चात् पश्चिम में जिन तीन प्रकार की कविताओं का जन्म हुआ : एक राष्ट्र गीत, दूसरी अनमिल (odd) कविता, तीसरी समाजवादी कविता, उन तीनों का ही अन्तर्भाव हिन्दी के प्रगतिवाद में आज मिलता है। यह ठीक है अभी उसमें

राष्ट्रीय भावना (मार्क्स) का ही प्राधान्य है। फ्रायड का प्रभाव अभी कविता में नहीं आया। जैसा कि मैंने पहिले संकेत किया है प्रगति के कवियों में दो वर्ग मिलेंगे। (१) एक में राष्ट्रीय चेतना अधिक सजग है (२) दूसरे में सैक्स। पहिले वर्ग की राष्ट्रीय चेतना में यद्यपि साम्यवाद की ही प्रमुखता है, परन्तु गान्धीनीति के अनुयायियों के लिए उसका मार्ग अभी तक बन्द नहीं है। इन पहिले वर्ग के कवियों में भी मनोस्थिति के अनुसार एक स्पष्ट विभाजन दिखाई देगा। (अ) कुछ आशावादी कवि 'पन्त' की भाँति निर्माण की ओर अधिक आकृष्ट हैं। उनकी विचार-धारा में संयम है, आशा है, अतः शान्ति है। ये लोग आत्मा की ओर भी काफी झुके हुए हैं। इनमें अन्य नाम नरेन्द्र और अज्ञेय के हैं। इस वर्ग के (आ) दूसरे कवियों में निराशा है, अतः आग है, तूफान है, प्रलय का आह्वान है। भगवतीचरण वर्मा, दिनकर, नवीन को साधारणतया इसी वर्ग में लिया जा सकता है। हरिकृष्ण प्रेमी की बाद की कविताएँ भी इसी प्रकार की हैं। इन कवियों में पलायन के विरुद्ध प्रतिक्रिया है। (२) प्रगति की दूसरी प्रतिक्रिया है अमूर्त उपासना के विरुद्ध। "अञ्चल ने छायावाद की मानवीय किन्तु अधिकांश अशरीर सौन्दर्य कल्पना के स्थान पर अपनी मांसल कृतियों द्वारा क्रान्ति की।" उनकी कविता में शरीर ने आत्मा के विरुद्ध विद्रोह किया है, और वासना का सारा रूप बेपरदा होकर निकल आया है। छायावाद के सांकेतिक रूप चित्रण के स्थान पर उसने माँस के शरीर का अङ्कन किया है। उसके काव्य में यद्यपि राष्ट्रीय-भावना का अभाव नहीं है, परन्तु सैक्स की चेतना ऊपर है।

प्रगतिवाद अभी जीवन की पहली मंजिल में है। उसे अभी अपनी वास्तविक स्थिति का भी ज्ञान नहीं है। अभी यह अधिकांश में कुछ हलके सिद्धान्तों के (जिनमें गला फाड़कर चिल्लाने वाली राष्ट्रीयता का बोलबाला है) चक्कर में पड़ा हुआ है।

पन्त मनीषी कवि हैं—परन्तु सिद्धान्त ज्ञानपूर्ण होने पर भी उनका उस जीवन से सम्पर्क नहीं है। अतः उनकी पहुँच बौद्धिक है। 'युगवाणी' में तो सिद्धान्त की ही बात अधिक थी, हाँ 'ग्राम्या' में वे कुछ अपना सके हैं और इसी कारण इन कविताओं में युगवाणी की कविताओं की अपेक्षा प्राण भी अधिक है। फिर भी हमें पन्त जी की

प्रतिभा का पूर्ण विकास देखने के लिए अभी और प्रतीक्षा करनी है।

नरेन्द्र की पकड़ अच्छी है, परन्तु अभी उनको अपनी गीतिमयी प्रकृति के विरुद्ध लड़ाई करनी पड़ रही है। दिनकर के विस्फोट में बड़ी शक्ति है—'उनमें विस्युवियस का उष्ण तरल लावा है।' उधर अञ्चल के स्वरों में 'जागृत और प्रदीप्त अतृप्ति का विह्वल रोदन है' यह सच है लेकिन अभी उन्हें अपने को पाना बाकी है, इसलिए उनके काव्य में विशेष कर अञ्चल के काव्य में 'बम्बास्ट' काफी है। नवीन और भगवतीचरण वर्मा, वस्तु के अधिक निकट प्रतीत होते हैं। सिद्धान्त-रूप से चाहे उनका गांधीनीति में विश्वास रखने के कारण, घोर प्रगतिवादी वर्ग से थोड़ा बहुत अन्तर हो, फिर भी उन्हें जो कुछ कहना है, वे उसे जानते हैं और महसूस करते हैं।

प्रगति की अपनी टेकनीक भी है, उसकी काव्य-सामग्री और भाषा के पीछे एक विशेष सिद्धान्त है। उस पर प्रयोग हो रहे हैं—प्रयोक्ताओं में पन्त, नरेन्द्र और भगवतीचरण को अच्छी सफलता मिली है, यद्यपि पन्त की सुकुमार रुचि उनका साथ यहाँ कठिनता से देती है। दिनकर नवीन और अञ्चल की काव्य-सामग्री, भाषा और टेकनीक प्रगति के सिद्धान्तों से कम मेल खाती है, साथ ही उनका दृष्टिकोण बौद्धिक नहीं है—इसलिए यह आशङ्का हो सकती है कि उनको शायद आगे, प्रगति का स्वरूप स्थिर हो जाने पर, इस वर्ग से निकलना पड़े।

प्रभाव—प्रगति का प्रभाव तो अच्छा ही होना चाहिए। काव्य में जो एक प्रकार की स्थिरता या मानसिक उलझन आ रही थी, प्रगति ने उस पर आघात किया है। परन्तु अभी उसमें खुद में उबाल और बम्बास्ट अधिक है। उसका प्रभाव भी पड़ रहा है। आज कवि सम्मेलनों में किसान और मजदूरों के प्रति जिस झूठी भावुकता का प्रदर्शन किया जाता है वह प्रगति की ही कृपा का फल है। इससे अपने प्रति ईमानदारी की भारी क्षति हो रही है।

आज के प्राणवन्त कवियों में निराला छायावाद और प्रगतिवाद के बीच की कड़ी हैं। उनमें प्रारम्भ से ही छायावाद की नारी-कला और प्रगति का पौरुष विद्यमान रहा है। युग के वात्याचक्र में यह कवि शक्ति-स्तम्भ के समान सदैव अटल खड़ा रहा है। इससे कौन

जाने कितने तूफान टकरा कर स्वयं विलीन हो गये। 'अनामिका' का कवि आज अपने जीवन के मध्याह्न को पार कर रहा है। उसका कोई अनुयायी नहीं है क्योंकि किसी में वह शक्ति और प्रतिभा नहीं। उसकी आत्मा उस तारे के सदृश है जो सबसे दूर स्थित रहकर अपना प्रकाश विकीर्ण करता है—"His soul is like a star that dwells apart"

दूसरे कवि हैं सियारामशरण। यह कवि अपने में लीन, और भीड़ से अलग, तपस्या में रत हैं। उसमें आत्मा की प्रमुखता है— अतः उसकी कविता में सात्विक भावना का प्राधान्य है। उसकी कृति 'बापू' शुद्ध श्रद्धा की सफलता है। कवि का अपना व्यक्तित्व उस श्रद्धा में घुल गया है। भौतिकता के इस युग में जिसमें माँस, वासना, अविश्वास, अविनय और क्रान्ति का स्वर सर्वत्र सुनाई देता है, इस साधु कवि की अन्तर्मुखी साधना एक विशेष महत्व रखती है। जीवन के निकट होते हुए भी यह कवि युग के अन्य सभी कवियों से बहुत दूर है।

इस युग का दूसरा प्रमुख वर्ग उन कवियों का है जो कविता को अपने सुख-दुख की अभिव्यक्ति मानते हैं। प्रगतिवादी की बहिर्मुखी प्रवृत्ति के विरुद्ध यह कवि अपना हृदय टटोलता है और मन के भार को हल्का करने के लिए लिखता है। यह बात नहीं कि युग-जीवन की हलचल का उस पर कोई असर नहीं पड़ता, यह असर वास्तव में छन कर पड़ता है। देश में व्याप्त निराशा उसके मन के अन्धकार को और भी गाढ़ा कर देती है। इस कविता का मुख्य विषय है, यौवन की विफलतायें। यहाँ प्रारम्भ में जीवन को स्वप्नों से भरने की मस्ती और उसकी अपूर्ति के कारण आत्म-विश्वास की हानि, फिर पराजय की भावना और अन्त में समर्पण (Surrender) का विवश सुख यह सब गुँथा हुआ मिलेगा। इस प्रकार इस कविता में भाग्यवाद का तत्त्व व्याप्त है। बच्चन इस वर्ग के अग्रणी हैं।

छायावाद का स्वर आज क्षीण पड़ गया है; प्रसाद की मृत्यु और पन्त के दिशान्तर प्रयास से उसे बड़ा धक्का लगा है, परन्तु उसके कला-मन्दिर में अभी एक अमर मानवती बैठी हुई अर्चन आराधन में रत है। मेरा तात्पर्य सुश्री महादेवी से है। गत वर्ष भले ही उसने

केवल दो एक बार ही स्वर-संधान किया हो, परन्तु वीणा उसके हाथ में है और काव्य की सुधा के पिपासु (गरल के नहीं) उसकी ओर भक्ति और श्रद्धा से देखते रहेंगे। उनके गीतों में छायावाद की अप्रत्यक्ष के लिए जिज्ञासा, उसका रूप-वैभव, रङ्गीन कल्पना-सुख एवं तरल कोमल सङ्गीत सभी कुछ प्रचुर मात्रा मे मिलता है। इस प्रसङ्ग में इलाचन्द्र जोशी की 'विजनवती', उदयशङ्कर भट्ट की 'मानसी', आरसी प्रसाद की 'कलापी' और राजकुमार की स्फुट कवितायें अनायास ही याद आ जाती हैं।

इसके अतिरिक्त द्विवेदी युग की इतिवृत्ति कविता की साधना भी चल रही है। इस समय कविता का स्वरूप अधिकांश में प्रगीत हो गया है, फिर भी कथा कहानी का मोह मानव न छोड़ सकेगा। द्विवेदी युग के प्रतिनिधि मैथिलीशरण गुप्त की इस परम्परा को हम हल्दीघाटी जैसी रचनाओं में पाते हैं। यहाँ जीवन के मौलिक विवेचन हैं। उधर रीतिकाल का रस-स्रोत भी चाहे जितना भी गति-बद्ध एवं क्षीण क्यों न हो गया हो परन्तु सूखा नहीं है—आज भी बुन्देलखण्ड, मथुरा, कानपुर और बनारस के कवि समाजों में कविता की धारा शृङ्गार और नीति के कूलों के बीच ही बहती है।

इस प्रकार सर्वांगीण दृष्टिपात करते हुए स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी कविता एक विशेष अनस्थिरता के आवर्त मे होकर गुजर रही है। उसमें आगे—जीवन की ओर—नवीनता की ओर बढ़ने की अभिलाषा है। पर अभी शक्ति नहीं आई। वास्तव में अभी उसमें निश्चयात्मिका वृत्ति का अभाव है।

युगवाणी

संसार प्रगतिशील है—वह आगे बढ़ता है। पिछली बातें उसके लिए कुछ दिनों में पुरानी हो जाती हैं। कभी-कभी ऐसा होता है कि मनुष्य जिन जीवनादर्शों का, जिन रीति-नीतियों का सृजन जीवन का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए करता है, कुछ दिन बाद भ्रम अथवा प्रमाद वश वे ही सर्पों की भाँति कुण्डली मार कर उसकी आत्मा के लिए रूढ़िश्रृङ्खलायें बन जाती हैं। विदेश में भौतिक जीवन की पूजा होने के कारण, वहाँ के आदर्श भौतिक संसार के रूपों की भाँति ही सदैव नये-पुराने होते रहते हैं। भारतवर्ष उचित या अनुचित रीति से शाश्वत-चिरन्तन पर अधिक आकृष्ट रहा है। अतएव वह पश्चिम की अपेक्षा कुछ मन्थर है। परन्तु परिवर्तन तो विश्व का नियम है—उसकी संस्कृति-सभ्यता में भी परिवर्तन अनिवार्य था—हुआ! मुसलमानों की विलास-भावना और हिन्दुओं की धर्म-भीरुता दोनों से जिस दम्भमूलक, सत्य-भीरु संस्कृति का जन्म हुआ उसके रूढ़ि-पाश में भारतीय जीवन बहुत दिनों तक बन्दी रहा। उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजी सभ्यता के सङ्घर्ष से उसमें आत्म-चेतना का प्रादुर्भाव हुआ और 'भारत-दुर्दशा' की ओर लोगों की आँखें उठीं—जीवन ने विलास की शैया छोड़ अँगड़ाई ली, परन्तु अभी दूसरी श्रृङ्खला में जो इससे कहीं दृढ़तर थी, लोच नहीं आया, जब तक कि स्वामी दयानन्द का क्रान्तिकारी वज्रघोष सुनाई न दिया। भारत की जाग्रति के इतिहास में वह दिन अमर रहेगा। हमारी आत्मा को जकड़ कर बैठे हुये सर्प के मस्तक पर वह पहला प्रहार था। धीरे-धीरे उसके बन्धन से बुद्धि, विवेक, सत्य, कर्म आदि जीवन के तत्त्व मुक्त होकर सामने आने लगे। धर्म के जड़ीभूत अन्धकार में कम्पन हुआ। जीवन की वास्तविकता से आँखें मिलाकर खड़े होने का साहस आया। तभी बापू का अवतार हुआ। उन्होंने युग-युग के कर्दम से परिवेष्टित मानवता के वास्तविक स्वरूप को पहिचाना और उसकी अमरता का मन्त्र फूँका। परन्तु बापू रहे भारतीय ही, उन्होंने भी जीवन के अन्तर्तत्त्वों को ही पकड़ा—

उनका दृष्टिकोण आध्यात्मिक ही रहा। देश का अग्रगामी दल कुछ और आगे दौड़ना चाहता था। पश्चिम के बढ़ते हुये यातायात ने उसे रूस के सोवियट-विधान की ओर आकृष्ट किया। हजारों मील दूर पर बैठे हुये दीन और दलित भारतवासी साम्यवाद के उस स्वर्ग को ललचायी आँखों से देखने लगे। दूर से उन्हें उसका हँसता हुआ वैभव ही दीख पड़ता था—उसके नीचे कितना धुआँ-अन्धकार है वह उनकी दृष्टि से बाहर ही रहा।

हिन्दी साहित्य इस बदलती हुई विचार-धारा से अस्पृष्ट कैसे रहता, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष किसी रूप से उस पर इन भावनाओं का प्रतिविम्ब पड़ने लगा। हिन्दी के एकान्त-प्रिय कोमल कवि पन्तजी को भी युग के सम्पर्क में आने की प्रेरणा हुई। प्रौढ़त्व की ओर बढ़ते हुये अध्ययनशील कवि ने स्वभावतः अपने चारों ओर देखने और समझने का प्रयत्न किया। परन्तु यह प्रेरणा पहले उसे अध्ययन से प्राप्त हुई। कवि पन्त की दृष्टि अत्यन्त तीक्ष्ण है—उनका आवजर्वेशन पूर्ण होता है। परन्तु जैसा कि मैं कई स्थानों पर पहिले कह चुका हूँ वे जीवन-सङ्घर्ष से दूर रहे हैं और अब भी दूर ही हैं। उन्होंने जीवन-नाटक को दर्शक की भाँति ही अधिक देखा है। अतः उनके इस युग के साथ-साथ चलने के प्रयत्न में अध्ययन की प्रेरणा भी स्पष्ट है। 'युगान्त' में कवि का दृष्टिकोण था मानववादी; उसको बापू की नीति मे पूर्ण विश्वास था।

> इस भस्म-काम तन की रज से
> जग पूर्ण-काम नव जगजीवन
> बीनेगा सत्य अहिंसा के
> ताने-बानों से मानवपन

परन्तु आज देश की प्रगति के अनुसार उनकी सफलता पर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया है :—

> सत्य अहिंसा से आलोकित होगा मानव का मन ?
> अमर प्रेम का मधुर स्वर्ग बन जावेगा जगजीवन ?
> आत्मा की महिमा से मण्डित होगी नव मानवता ?

इसलिए कवि ने बापू कविता को 'युगवाणी' में स्थान नहीं

दिया। वह कविता तो मानो पाठक को युग में प्रविष्ट करा कर स्वयं अलग खड़ी हो जाती है।

'युगवाणी' एक प्रकार से भारतीय साम्यवाद की वाणी है—भारतीय अर्थात् जिस रूप में उसे भारत का मस्तिष्क और हृदय समझ सका है। साम्यवाद अभी हमारी समझ से आगे नहीं बढ़ा—अभी जीवन की वस्तु नहीं बन सका, यह निर्विवाद है। अभी वह सुन्दर दर्शन मात्र है। 'युगवाणी' में प्राधानतः उसी के सिद्धान्तों का पद्यात्मक निबन्धन किया गया है। भारतीय साम्ययाद (?) का 'युगवाणी' में दो रूपों में ग्रहण है। एक ओर उसके मुख्य-मुख्य सभी सिद्धान्तों का विवेचन है, दूसरी ओर साम्यवाद के दृष्टिकोण का ग्रहण।

देश ने गत संस्कृति के बन्धन में जकड़ कर अनेक यातनाएँ सहीं। अब उसे प्राचीन रूढ़ियों से निर्मुक्त होकर नवीन मांसल आदर्शों का निर्माण करना है:—

मुखियों के, कुलपति, सामन्त, महन्तों के वैभव क्षण,
विला गये बहु राज तन्त्र, सागर में ज्यों बुद बुद कण।

प्राचीन संस्कृति का प्रतीक साम्राज्यवाद अपने समस्त साधनों के साथ आज मरणोन्मुख हो रहा है। उसके साथ पूँजीवाद निशा भी समाप्त होने को है। परन्तु अभी एक सङ्घर्ष और है। साम्राज्यवाद अपने समस्त विषवह्नि को एकत्र कर अन्तिम रण को उद्यत है। यह उसके विनाश का ही आयोजन मात्र है। बस अब शीघ्र ही—

जन-युग की स्वर्णिम-किरणों से होगी भू आलोकित।

यह युग स्वर्ण-युग होगा जब—

श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित
धन-बल से हो जहाँ न जन श्रम शोषण
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन !

भारतीय साम्यवादियों की भाँति अहिंसा में विश्वास रखता हुआ भी, कवि उन्हीं की तरह यह स्वीकार अवश्य करता है कि सन्धि-युग में हिंसा अनिवार्य है—

नहीं जानता युग-विवर्त में होगा कितना जन क्षय
पर मनुष्य को सत्य अहिंसा इष्ट रहेंगे निश्चय।

इस जन-युग का विधाता होगा जन-समाज। जन-समाज में कृषकों से तो आशा करना व्यर्थ है—

कर्षक का उद्धार पुण्य इच्छा है कल्पित
सामूहिक कृषि कार्य-कल्प अन्यथा कृषक मृत।

इसका कारण भी है—

विश्व विवर्तनशील अपरिवर्तित वह निश्चल!
वही खेत, गृह-द्वार वही, वृष हँसिया औ हल!

इसीलिए यह युग अब श्रमीवर्ग की ओर देख रहा है। उसमें उसका अटल विश्वास है—

चिर पवित्र वह : भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी—पावन श्रम से प्रक्षालित।

वही लोक-क्रान्ति का अग्रदूत है, नव्य सभ्यता उसी के आश्रित है। इस युग-निर्माण के लिए आदर्श भी बदलने पड़ेंगे। प्राचीन आदर्श जो गत संस्कृति के गरल के समान जन-जीवन में व्याप्त है, उनका उन्मूलन करना पड़ेगा। आज तो हमारी समस्या हैं जीवन—समष्टि का जीवन, व्यष्टि का नहीं। साहित्य अथवा कला उसी के समाधान का एक साधन है। यह युग ठोस मांस का युग है। जीवन की—भव-जीवन की समस्यायें, रोटी पानी का सवाल—अच्छा खाना, अच्छा पहिनना यही इस युग में प्रधान है। 'सुन्दर हों जनवास वसन सुन्दर तन!' गत युग के 'हास अश्रु आशाऽकांक्षा' इस युग में आकर 'खाद्य, मधु पानी' बन गये हैं। आज का युग मानो कवियों का आह्वान कर स्पष्ट शब्दों में कह रहा हो—

कहाँ खोजने जाते हो सुन्दरता औ आनन्द अपार!
इस मांसलता में है मूर्तित अखिल भावनाओं का सार!

कवि का (युग का ?) दृष्टिकोण यद्यपि भौतिक हो गया है या हो रहा है परन्तु संकीर्ण भौतिकता को जीवन के लिए वह अब भी घातक मानता है :—

मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम संवार कर चाम?

दृष्टिकोण का यह पतिवर्तन शैली के परिवर्तन की ओर संकेत करता है—जिस प्रकार विचारों में मौलिकता और उपयोगिता का समावेश हुआ, इसी प्रकार शैली में भी एक प्रकार की मूर्तता और,

सीधापन आ गया। बात का महत्त्व है, बात कहने के ढङ्ग का इतना नहीं। उसको सँवारने का प्रयत्न निष्फल है। अतएव अलङ्करण सामग्री नित्य प्रति के जीवन से ही ग्रहण करना उचित समझा गया। युगवाणी की अभिव्यञ्जना-शैली का यही व्याख्यान है। उसमें 'पल्लव' 'गुञ्जन' या 'ज्योत्स्ना' के चित्रों का रूप-वैभव (Luxury) नहीं रहा। इस बात को और स्पष्ट समझने के लिये दो उदाहरण लीजिये। गङ्गा की साँझ का दृश्य है एक चित्र 'गुञ्जन' का है दूसरा 'युगवाणी' का :—

१— अब हुआ सान्ध्य-स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन।
गङ्गा के चल जल में निर्मल,
कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल।
है मूँद चुका अपने मृदु दल,
लहरों पर स्वर्ण-रेख सुन्दर।
पड़ गई नील, ज्यों अधरों पर,
अरुणाई प्रखर शिशिर से डर।
तरु शिखरों से वह स्वर्ण विहग,
उड़ गया खोल निज पङ्ख सुभग।
किस गुहा नीड़ में रे किस मग,
मृदु-मृदु स्वप्नों से भर अञ्चल,
नव नील-नील कोमल-कोमल,
छाया तरु-वन में तम श्यामल। (गुञ्जन)

२— अभी गिरा रवि, 'ताम्र-कलस-सा,
गङ्गा के उस पार,
क्लान्त पाथ जिह्वा विलोल,
जल में रक्ताभ प्रसार
भूरे जलदों से धूमिल नभ, विहग-पंख से बिखरे—
धेनु त्वचा से सिहर रहे, जल में रोओं से छितरे।
दूर, क्षितिज में चित्रित-सी उस तरु माला के ऊपर
उड़ती काली विहग पाँति रेखा-सी लहरा सुन्दर!

(युगवाणी)

पहले में रूप और रङ्ग का विलास है—स्वप्न है, दूसरे में

तथ्य का चित्रण। पहले पद का 'किरणों का रक्तोत्पल' दूसरे में 'ताम्र-कलश' बन गया है। 'गुञ्जन' का सोना और स्वप्न 'युगवाणी' में विहग-पंख, धेनुत्वचा इत्यादि में परिणत हो गया है।

अभिव्यक्ति के माध्यम पर विचार करते हुए 'युगवाणी' के मुख पृष्ठ पर लिखे हुए दो शब्द 'गीत गद्य' हमें आकृष्ट करते हैं। वे स्पष्ट कहते हैं कि यह युग गद्य का है। जीवन में अब कविता नहीं रही अथवा यों कहें कि जीवन से कविता का बहिष्कार किया जा रहा है। अतः साहित्य में भी कविता (रसात्मक वाक्य) के लिए अब गुञ्जायश शायद रही नहीं (?) ऐसी दशा में 'युगवाणी' का माध्यम कविता न रह कर केवल गीति (गाया हुआ—(Metrical) गद्य ही रह जाना चाहिए। फलतः 'युगवाणी' की भाषा में न 'गुञ्जन' का सा रेशमी-मार्दव है, न 'युगांत' की-सी मांसल शक्ति, परन्तु इन गुणों के बदले उसमें एक अन्य विशेषता आ गयी है—वह है भावों के अनुकूल नपे तुले शब्दों का प्रयोग (Accuracy)।

अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों की वाहक है टेकनीक। अनुभूति आत्मा है, अभिव्यक्ति शरीर, भाषा वाणी और टेकनीक चाल-ढाल। 'युगवाणी' में कविता की टेकनीक में काफी नवीनता आ गई है। अँग्रेजी साहित्य में आजकल टेकनीक पर नये-नये प्रयोग हो रहे हैं। क्यूबिस्ट, इमेजिस्ट आदि कई नये स्कूल चल पड़े हैं। 'युगवाणी' पर आधुनिक अङ्गरेजी कविता का प्रभाव स्पष्ट है। परन्तु 'युगवाणी' के कवि में एक विशेष गुण है जो अङ्गरेजी के बहुत से कवियो में नहीं है—वह है उसकी गम्भीर-संयत प्रकृति। वह किसी बात को केवल वैचित्र्य के लिए दूर तक घसीटने का आदी नहीं है—वह किसी प्रकार की धुन में नहीं पड़ता। दूसरे उसकी जैसी सुरुचि कितनों में मिलेगी? इसलिए 'युगवाणी' की टेकनीक में नये प्रयोग सभी सार्थक हैं—उनके पीछे जिस रुचि की प्रेरणा है वह अनुपम है। हिन्दी काव्य की टेकनीक में प्रयोग यद्यपि कवि निराला ने अधिक किये हैं—परन्तु पन्त की दृष्टि भिन्न है। निराला की टेकनीक में प्रतिभा का स्पर्श पन्त की अपेक्षा अधिक होता है, उधर पन्त के प्रयोगों में गम्भीर मनन, एवं वर्षों की परिष्कृत शालीन रुचि का प्रभाव अनिवार्य होता है। युग वाणी की 'चींटी', 'पुष्प-प्रसू', 'ओस के प्रति' आदि कविताएँ मेरे।

कथन का समर्थन करेंगी।

यह है 'युगवाणी' की अन्तरङ्ग व्याख्या। परन्तु 'युगवाणी', विचार, भाव और अभिव्यक्ति की दृष्टि से हिन्दी काव्य के लिए सर्वथा नवीन है। अतः उसका मूल्याङ्कन करने के लिए स्वभावतः दो प्रश्न उठते हैं। एक विचार-विषयक, दूसरा काव्य-विषयक। विचार विषयक प्रश्न यह है कि 'युगवाणी' में गर्भित सिद्धान्त कहाँ तक ठीक हैं, उनकी उपादेयता भारत के लिए कितनी है और दूसरे वे भारत के इस युग की वाणी किस सीमा तक हैं। क्या भारत के असंख्य जन-समाज की वाणी यही है ? मैं इस प्रश्न को नीतिज्ञों के लिए छोड़ देता हूँ। इतना अवश्य है कि पन्त के विचारों में स्वच्छता है—वे स्पष्ट और सुव्यक्त हैं। साहित्य के विद्यार्थी का सम्बन्ध दूसरे प्रश्न से अधिक घनिष्ट है। 'युगवाणी' का काव्य की दृष्टि से क्या मूल्य है ? उसको काव्य कहना भी कहाँ तक उचित है ?

इन प्रश्नों का उत्तर देने से पहले एक और प्रश्न का समाधान आवश्यक है। क्या वास्तव में कविता को जान बूझ कर किन्हीं सिद्धान्त विशेष का वाहक बनाया जा सकता है—अर्थात् क्या कविता युग की ही सम्पत्ति है, युग-युग की नहीं ? अथवा क्या काव्य की आत्मा भी प्रत्येक युग के साथ बदलती रहती है ? जीवन प्रगति का ही पर्याय है। संसार में जो कुछ है वह आगे बढ़ने का ही प्रयत्न करता है—और तभी संसार का नाम जगत है। हमारी संस्कृति, सभ्यता, धर्म सभी के आदर्शों में परिवर्तन होता रहा है। प्रत्येक युग की अपनी विशेष समस्याएँ होती हैं—अतः प्रत्येक युग, युग-जीवन के आदर्शों को उन्हीं के अनुसार ढालता रहता है यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से होता रहता है। परन्तु इस परिवर्तन—विवर्तन की सीमा है। संसार में जो कुछ है सभी परिवर्तनशील नहीं है। यदि ऐसा मान लेंगे तो सत्य कुछ भी न रह जायेगा। सत्य निरन्तर है—शाश्वत है। युग-युग के परिवर्तन के पीछे जो ठोस आत्मा की तरह जम कर बैठा हुआ है, जिस शक्ति केन्द्र के कारण जगत के परिवर्तित दृश्य बिखर कर अस्त व्यस्त नहीं होने पाते—वही शाश्वत है। इसी सत्य के सहारे से जीवन का प्रत्येक युग में, प्रत्येक देश में परिचालन हुआ है। इसकी अभिव्यक्ति चाहे पूर्व पश्चिम के समान भिन्न रही हो, परन्तु अनुभूति

में कोई तात्त्विक भेद नहीं रहा। इसीलिए जीवन के सूक्ष्म सिद्धान्त जिनका जीने से सम्बन्ध है—देशकाल के बन्धन को अस्वीकार करते हुए सदैव और सर्वत्र एक से रहे हैं। मानव की मानवता शाश्वत है, उसकी व्याख्या चाहे कोई किसी प्रकार करले। कला जीवन की अभिव्यक्ति ही तो है न, और जीवन में जो आनन्द का अंश है, कला का उसी से सीधा सम्बन्ध है। इसी कारण उसमें रस का अन्तर्भाव अनिवार्य है—'दिक्कालावच्छिन्न' है—रसो वै सः। वह कला की—कविता की आत्मा है। उसके आवरण उपकरण चाहे कितने ही बदलते रहें परन्तु आत्मा नहीं बदल सकती। 'मा निषाद प्रतिष्ठात्वं' से लेकर।

'आये तुम मुक्त पुरुष कहने
मिथ्या जड़ बन्धन सत्य राम
नानृतं जयति सत्य मा भैः।
जय ज्ञान-ज्योति तुमको प्रणाम।'

(युगान्त)

अब तक उसमें परिवर्तन नहीं हुआ, तो आगे हो जायगा ऐसा एक साथ कैसे कह दें। अतः क्या यह निर्विवाद नहीं है कि किसी भी रचना को काव्य बनने के लिए रस-मय होना पड़ेगा? विना उसके, चाहे वह कविता से भी कोई ऊँची चीज हो जाए परन्तु कविता न हो सकेगी। और रस का संचार तभी हो सकेगा जब कवि अपनी कृति में अपने जीवन को उँडेल दे। उधर श्रोता या पाठक को रस अथवा आनन्द की प्राप्ति तभी सम्भव है जब उसकी अन्तर्वृत्तियों में सामञ्जस्य (harmony) स्थापित हो जाये। जब तक अन्तर्वृत्तियों का समन्वय न होगा तब तक आनन्द की उपलब्धि असम्भव है—कौतूहल, विस्मय कितना ही हो जाये। हमको वही नवीनता आनन्द-प्रद होती है जो हमारी वृत्तियों में असामञ्जस्य उत्पन्न न कर दे।

My love you are greater than the frog
(प्रिये, तुम मैंढक से भी महान हो) में यही बात है। वह उक्ति किसी सहृदय को आनन्द नहीं दे सकती।

'युगवाणी' को इसी कसौटी पर कसना है। कौन अस्वीकार करेगा कि 'युगवाणी' में आधुनिक जीवन के कुछ सिद्धान्तों की सुन्दर

व्याख्या है ? कौन मना करेगा कि वे सिद्धान्त अत्यन्त उदात्त और भव्य हैं ? परन्तु इन कविताओं में रस नहीं है—और इनका स्वाभाविक कारण केवल यही है कि नक्षत्रवासी पन्त उस जीवन से दूर हैं। उन्होंने इन सिद्धान्तों को पढ़ कर और सोच कर पाया है, सह कर और भोग कर नहीं। इसलिए वे उनमें जीवन नहीं उँडेल सके। ये कविताएँ अधिकांश ठण्डी हैं उनमें जीवन की चिनगारी नहीं है।

परन्तु फिर भी पन्त का विद्यार्थी इन कविताओं को देखकर निराश नहीं होगा क्योंकि उसने पन्तजी की कविता के वर्धमान चिंतन और संयम के विकास का अध्ययन किया है—उसके लिए युगवाणी का गीत-गद्य एक साथ नहीं आ टपका। वह इसके लिए तैयार था। लेकिन पन्त कवि है—कविता उसका जन्म-जात अधिकार है, और 'युगवाणी' के गद्य में भी कविता के रेशमी धागे अलग चमक जाते हैं।

नीचे के उद्धरणों में हृदय की प्रेरणा स्पष्ट है—

(१) जड़ वृन्त मूल ! उड़ती होतीं
तुम तितली-सी सुख से उन्मुख,
पृथ्वी के हों ये डाल पात,
पर पार्थिव नहीं तुम्हारा सुख ! (केलिफोर्नियाँ पॉपी)

(२) हे कुरूप, हे कुत्सित प्राकृत,
हे सुन्दर, हे संस्कृत, सस्मित
आओ जग-जीवन परिणय में
परिचित-से मिल बाँह भरो। (आवाहन)

(३) सच है, जीवन के वसन्त में
रहता है पतझार,
गन्ध-वर्णमय कलि-कुसुमों का
पर ऐश्वर्य अपार ! (रूपसत्य)

कहीं-कहीं भाव अत्यन्त कोमल एवं सूक्ष्म हो गए हैं—

(१) पुरुषों की ही आँखों से नित देख-देख अपना तन,
पुरुषों ही के भावों से अपने प्रति भर अपना मन,
लो अपनी ही चितवन से वह हो उठती है लज्जित,
अपने ही भीतर छिप-छिप जग से होगई तिरोहित ! (नर की छाया)

(२) सुन्दरता से अनिमिष चितवन
छू कोमल मर्मस्थल
मूक सत्व के भेद सकल
कह देती, (खुल दल पर दल)—
सहज समझ लेता मन। (सुमन के प्रति)

(३) सर् सर् मर् मर्
रेशम के से स्वर भर। (नीम)

'युगवाणी' के चित्रों में अजीब बारीकी है;

नील निरभ्र गगन पर
चित्रित-से दो तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर,
मन को सुखकर। (दो मित्र)

निम्न भावगम्य चित्र की रेखाएँ कितनी पुष्ट हैं—

भय का दे पाथेय प्रकृति ने
भेजा मनुज अपरिचित वनमें!

इसके अतिरिक्त सैद्धान्तिक कविताओं में भी कुछ स्केच बड़े अच्छे और सच्चे हैं—

१— मध्य-वर्ग का मानव, वह परिजन पत्नी-प्रिय!
(मध्यवर्ग)

२— वज्र मूढ़, जड़ भूत, हठी वृष-बाँधव कर्षक
ध्रुव, ममत्व की मूर्ति, रूढ़ियों का चिर रक्षक!
(कृषक)

आशा है, पन्तजी की कविताओं में शीघ्र ही मांस का समावेश हो जायेगा और उनके प्रेमी पाठकों को संशय से मुक्त होने का अवसर मिलेगा।

ग्राम्या

युगवाणी प्रगतिवादी पन्त का सिद्धान्त-वाक्य था—ग्राम्या उसका प्रयोग। युगवाणी में पन्तजी अपने नवीन सिद्धान्तों की रूप-रेखा निश्चित कर रहे थे। सिद्धान्त अमूर्त होते हैं, इसलिए युगवाणी में रस से पुष्ट मांस नहीं है। ग्राम्या तक वे सिद्धान्त स्थिर कर चुके और अब उन्होंने उसके प्रयोग के लिए एक मूर्त आधार चुन लिया। स्वभावतः ग्राम्या की स्नायुओं में कवित्व का गाढ़ा रस प्रवहमान है, उसके अङ्ग भरे हुए और यौवनपीन हैं:—

> है माँस-पेशियों में उसके दृढ़ कोमलता
> संयोग अवयवों में अश्लथ उसके उरोज।
> कृत्रिम रति की है नहीं हृदय में आकुलता,
> उद्दीप्त न करता उसे भाव-कल्पित मनोज।

यह मानों ग्राम्या की भावमयी व्याख्या है। छायावादी पन्त में (छायावाद में ही) भाव-कल्पित मनोज की उपासना थी। आज प्रौढ़ता की ओर बढ़ते हुए उनके काव्य में किस प्रकार रङ्गीन कल्पना-चुम्बित भावुकता के स्थान पर एक स्वस्थ पौरुषमय भावुकता का समावेश हो रहा है—यही संकेत हम ऊपर की पंक्तियों से ग्रहण कर सकते हैं।

ग्राम्या में कवि-दृष्टि

प्रगतिवाद का आलम्बन है (माफ कीजिए यह शब्द कुछ बुज़ुर्आ है) जन-जीवन, और भारत के जन जीवन का केन्द्र है ग्राम, अतएव पन्तजी का आज के राजनीतिज्ञों की भाँति ग्राम की ओर जाना स्वाभाविक ही है। पन्तजी का ग्राम दर्शन जैसा उन्होंने स्वयं स्वीकार किया है, बौद्धिक सहानुभूति के आश्रित है, ग्राम-जीवन का निरीक्षण और आलोचन है, निमग्नता नहीं है। ग्राम-जीवन में मिल कर उसके भीतर से ये कविताएँ नहीं लिखी गईं; इसका कारण पन्तजी के शब्दों में है: 'ग्रामों की वर्तमान दशा में वैसा करना प्रतिक्रियात्मक

साहित्य को जन्म देना होता।' यह बात कुछ हद तक ठीक है, परन्तु उसका दूसरा पहलू भी है। हम पूछते हैं कि क्या वैसा करना (ग्राम्य-जीवन मे मिल कर उसके भीतर से कविता लिखना) पन्तजी के लिए सहज सम्भव है? इसका उत्तर पन्तजी अथवा उनसे घनिष्ठ परिचय रखने वाला कोई अन्य आलोचक न जाने क्या दे, परन्तु हमारी विनम्र धारणा है कि पन्तजी के लिए यह सम्भव नहीं है, बौद्धिक सहानुभूति—जो आलोचनात्मक निरीक्षण पर अवलम्बित है—से आगे पन्तजी जा नहीं सकते। युगवाणी में 'नक्षत्र' लोक के दैवी एकान्तवास (God like solitude) से उन्होंने जन-जीवन को देखा था, ग्राम्या में वे नीचे उतर कर कुछ पास खड़े हुए उसका दर्शक की भाँति निरीक्षण और मनन कर रहे हैं। परन्तु अब भी पन्तजी दर्शक ही हैं, अन्तर इतना है कि पहले वे अपनी कोमलता से दबे हुए जीवन के सौन्दर्य को देखते थे, अब उनकी दृष्टि स्थिर होकर भीषणता और कुरूपता को भी आग्रह पूर्वक देखती है। पन्तजी की दृष्टि में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ।

दृष्टि परीक्षा

यद्यपि मैं काव्य के मूल्याङ्कन में इस प्रकार की परीक्षा को कोई विशेष महत्व नहीं देता, फिर भी चलते-चलते यह देखना कि पन्तजी का ग्राम दर्शन कैसा है, असङ्गत न होगा। ग्राम्या में कवि ने ग्राम के समस्त रूप को, वहाँ के नर-नारी को, नित्य-प्रति के जीवन को, उसकी संस्कृति को व्यष्टि रूप में नहीं समष्टि रूप में देखा है। ग्राम, ग्राम कवि, ग्राम-दृष्टि, ग्राम-चित्र आदि कविताओं में ग्राम का अखण्ड चित्र अङ्कित किया गया है। इनमें ग्राम को सम्पूर्ण रूप में देखा गया है। कवि ग्रामों की दैन्य-जर्जर अवस्था को देख कर दुःखी होता है। वह देखता है कि—

> ज्ञान नहीं है, तर्क नहीं है, कला न भाव विवेचन,
> जन है, जग है, क्षुधा, काम इच्छाएँ, जीवन-साधन।
> × × × ×
> रूढ़ि रीतियों के प्रचलित पथ, जाति पाँति के बन्धन,
> नियत कर्म हैं, नियत कर्म-फल—जीवन-चक्र सनातन।

परन्तु फिर भी उसका दृढ़ विश्वास है कि—

मनुष्यत्व के मूलतत्व ग्रामो में ही अन्तर्हित,
उपादान भावी संस्कृति के भरे यहाँ हैं अविकृत।

दूसरे चित्र व्यक्तियों के हैं, वे वैशिष्टयहीन, टाइप हैं। व्यक्ति के सुख-दुख साधारण ग्राम-जन के सुख हैं। ग्राम युवती ग्राम-नारी, कठ-पुतले, गाँव के लड़के, वह बुड्डा, ग्राम वधू, वे आँखें, मजदूरनी आदि कविताएँ ऐसी ही हैं। कुछ कविताएँ साधारण ग्राम्य-जीवन से सम्बन्ध रखती हैं। धोबियों का नृत्य, चमारों का नाच, कहारों का रुद्र नृत्य, नहान इत्यादि और कुछ में ग्राम-संस्कृति का विवेचन है, उदाहरण के लिए ग्राम-देवता, भारत-ग्राम को लिया जा सकता है। इसके अति-रिक्त ग्राम-श्री की प्राकृतिक छटा भी दर्शनीय है। इन कविताओं में पन्तजी की दृष्टि का विश्लेषण करने पर हमें उसके अन्दर निरीक्षण अत्यन्त सूक्ष्म तथा आलोचन प्रौढ़ एवं विवेक पुष्ट मिलेगा और इन दोनों से भीगे पट की तरह लिपटी हुई मिलेगी—एक करुण सहा-नुभूति। पहले निरीक्षण की बारीकी देखिए—

किस महारात्रि तम में निद्रित,
ये प्रेत स्वप्नवत सञ्चालित।
किस मोह मन्त्र से रे कीलित,
ये दैव-दग्ध जग के पीड़ित।

इन पंक्तियों में ग्रामीणों की रूढ़ि-परिचालित शिथिल जीवन गति की ओर सूक्ष्म संकेत है। आलोचना में—जहाँ तक विश्लेषण का सम्बन्ध है वहाँ तक पन्तजी अद्वितीय हैं, परन्तु समन्वय उनका उतना प्रौढ़ नहीं है। वे अन्तर्तत्त्वों को पृथक जिस बारोकी से कर सके हैं उनको अन्वित उतनी सफाई से नहीं कर पाये। सहानुभूति, जैसा उन्होंने स्वयं कहा है, उनकी बौद्धिक है। बौद्धिक सहानुभूति का अर्थ यह है कि उसमें कवि भावमग्न नहीं होता, वह दोनों पहलुओं का सन्तुलित विवेचन करता हुआ—दोषों के प्रति भी सतर्क रह कर अपने आलोच्य की कल्याण-कामना करता है। यह सहानुभूति प्रेमी मित्र की सहज मधुर सहानुभूति नहीं है। आलोचक अथवा शिक्षक की मीठी-कड़वी सहानुभूति। पर इसका अर्थ यह नहीं कि हार्दिकता एकदम बहिष्कृत है। ग्राम्या की पंक्तियों में भाव की कोमलता और अनेक स्थलों पर, सहज उल्लास और विषाद का अभाव नहीं है।

१—आता मौन प्रभात अकेला सन्ध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दो-पहरी में स्वप्नों की छाया-सी।

२—वह मग में रुक,
मानों कुछ झुक,
आँचल सँभालती, फेर नयन मुख,
पा प्रिय पद की आहट;
आ ग्राम युवक,
प्रेमी याचक!
जब उसे ताकता है इकटक,
उल्लसित,
चकित,
वह लेती मूँद पलक पट। —ग्राम युवती

३—तुमने निज तन की तुच्छ कंचुकी को उतार।
जग के हित खोल दिये नारी के हृदय-द्वार॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि ये ग्राम्य चित्र एक चतुर चितेरे के द्वारा अङ्कित किये गये हैं। पन्तजी की सूक्ष्म दृष्टि ने सूक्ष्म तत्त्वों को काफी गहरे में जाकर पकड़ा है और प्रौढ़ बुद्धि ने उनकी विवेचना करके स्वच्छ रूप में उपस्थित किया है। परन्तु द्रष्टा और दृश्य के बीच एक विशेष अन्तर सदैव बना रहा है। यह अन्तर शारीरिक ही नहीं मानसिक भी है—(ज्ञान का, संस्कृति-शिष्टता का और क्षमा करें, वर्ग का भी) एक दम—कुछ नीचे उतरने का भाव विद्यमान है।

इन कीड़ों का भी मनुज बीज,
यह सोच हृदय आता पसीज।

इस प्रसङ्ग में हमें भारत के प्रसिद्ध समाजवादी नेता श्री सम्पूर्णानन्द के शब्द याद आते हैं "……पर यही दोष उस साहित्य में भी है और होगा जिसकी सृष्टि मध्यवर्ग के कृत्रिम वातावरण में होगी। यह वर्ग जनता, सच्ची जनता से बहुत दूर है…दो चार दिन किसी गाँव में बैठ कर ग्रामीण जीवन पर रचना, उसकी दयनीयता दिखलाना, उसकी हँसी उड़ाना है। दया भिक्षा के टुकड़ों से ही तो धनिक वर्ग और उसके पीछे पूँछ हिलाने वाला मध्यवर्ग दलितों, शोषितों, पीड़ितों को धोखा देना चाहता है। यदि आप उनके साथ

सहानुभूति नहीं कर सकते तो उन पर दया दिखला कर उनका अपमान मत कीजिये। आपको प्रगतिशीलता का यश मिलता है पर आप पाप के भागी बनते हैं।"

अतएव ग्राम्या में हमें परिचय की तात्कालिक घनिष्ठता तो मिल जाती है परन्तु वह पर्याप्त नहीं है। ग्राम्य जीवन के व्याख्याता के लिये एक सुदीर्घ परिचय की आवश्यकता है और पन्तजी की ग्राम्य-परम्परा से कोई विशेष घनिष्ठता नहीं है। उन्होंने तो जैसे नोटबुक और पेंसिल की सहायता से उसका अध्ययन किया है। इस कारण उनकी कविता में ग्राम्य जीवन विषयक त्रुटियों की कमी नहीं है। अनेक चित्रों में अतिरञ्जना और एकाङ्गिता आ गयी है। अतः हमें उनके ग्राम दर्शन को उसकी सीमा और शक्ति दोनों के साथ देखना चाहिए। एक ओर हम सुनते हैं—"रही डिब्बे में बैठकर पति से हँस कर बात करने की अवस्था, जहाँ तक सम्भव होता है ग्रामों में पति पत्नी को लेने बहुत कम जाता है।......यदि वह गया भी तो कोई न कोई साथ में रहता है, और कोई नहीं तो नाई ही सही....।" दूसरी ओर, "यह कदाचित् अतिशयोक्ति नहीं होगी कि विश्व-साहित्य में आज तक किसी कवि ने ग्राम्य जीवन का प्रगतिशील दृष्टिकोण से इतना विशद इतना मार्मिक चित्रण नहीं किया—स्वयं वर्ड्सवर्थ ने भी नहीं।"

इनमें पहला निरर्थक है, दूसरा अत्युक्तिपूर्ण। वैसे भी वर्ड्स-वर्थ का उदाहरण ग्राम्य जीवन के प्रसङ्ग में अधिक उपयुक्त नहीं। बर्न्स से तुलना कीजिए, अन्तर स्पष्ट हो जायगा।

पन्तजी का प्रकृत रूप

हम ऊपर निवेदन कर आये हैं कि पन्तजी मूल रूप में सौन्दर्य-द्रष्टा हैं। उनके दृष्टिकोण में बौद्धिक विकास हुआ है, बाह्य उपकरण बदल गये हैं। परन्तु उनकी आत्मा ज्यों-की-त्यों है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे पन्तजी बुद्धि द्वारा गृहीत सत्यों को जीवन में प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहे हों और उनका स्वभाव जैसे प्रायः उनसे ऊब कर संस्कारों की ओर भाग उठता हो। इस प्रकार आज उनके स्वभाव और सिद्धान्त में विरोध चल रहा है, यह उनकी कृतियों को पढ़ कर आप फौरन ताड़ सकते हैं। पिछली बार मैंने पन्तजी से एक शङ्का

की थी कि आपका Temperament (स्वभाव) आपकी प्रगति में साथ नहीं दे रहा—क्या यह सत्य नहीं है ? उसका उत्तर उन्होंने मुझे यह दिया था—

"Temperament is that which can be tempered" अर्थात् स्वभाव को गढ़ा जा सकता है। सचमुच आज कल पन्तजी जैसे अपने स्वभाव को गढ़ने में लगे हों और वह बार-बार संस्कार की ओर प्रतिवर्तन करता हो—

कहीं-कहीं जी करता मैं जाकर छिप जाऊँ।
मानव जग के क्रन्दन से छुटकारा पाऊँ॥
प्रकृति नीड़ में व्योम खगों के गाने गाऊँ।
अपने चिर स्नेहातुर उर की व्यथा भुलाऊँ॥

कारण यह है कि पन्तजी के स्वभाव और सिद्धान्तों के बीच एक बड़ी खाई है जिसको बुद्धि के द्वारा वे भरने का प्रयत्न कर रहे हैं—और शायद काफी भर चुके हों, परन्तु उनके मन की सहज गति उधर नहीं है। उनके स्वभाव की सौन्दर्य-प्रियता जो जीवन के एकान्त में मनन और चिन्तन के द्वारा पोषित होती रही, अब भी उनकी दृष्टि में घुली मिली है, उनकी दृष्टि अब ग्रामीण आसानी से नहीं हो सकती। अतएव आज भी 'स्थूल' अथवा 'प्राकृत कुत्सित' का निरीक्षण करती हुई वह प्रायः सूक्ष्म-कोमल पर ही टिकती है। ग्राम्य वातावरण में भी वह सूक्ष्म-कोमल को ही पकड़ती है—

१—अरहर सनई की सोने की,
किंकड़ियाँ हैं शोभाशाली।

२—जो हरित धरा से झाँक रही,
नीलम की कलि तीसी नीली।

३—मरकत डिब्बे सा खुला ग्राम,
जिस पर नीलम नभ आच्छादन,
निरुपम हिमांत में स्निग्ध शान्त
निज शोभा से हरता जन मन! —ग्राम श्री

'सन्ध्या के बाद' जैसी प्रगतिशील कविताओं में भी आपको चयन की वही सूक्ष्मता मिलेगी।

माली की मँड़ई से उठ नभ के नीचे नभ-सी-धूमाली।
मन्द पवन में तिरती नीली रेशम की हलकी-सी जाली ॥

गङ्गा, स्वीट पी, याद, गुलदावदी, नक्षत्र आदि कविताओं की ही दूसरी रही, उनके तो विषय ही सुन्दर हैं। इनमें चित्रण और भावुकता की सूक्ष्मता ने मिल कर जो कवित्व की जाली काढ़ी है वह सहज मनोरम है। चित्रण की दृष्टि से गङ्गा, सन्ध्या के बाद आदि कविताएँ पल्लव, गुञ्जन और युगान्त की कविताओं को मात करती हैं। याद, नक्षत्र और रेखाचित्र की पंक्तियों में कवि की व्यक्तिगत भावना के मधुर करुण स्पर्श हैं—

नव असाढ़ की सन्ध्या में मेघों के तम में कोमल,
पीड़ित एकाकी शय्या पर, शत भावों से विह्वल।
एक मधुरतम स्मृति पल भर विद्युत सी जलकर उज्ज्वल,
याद दिलाती मुझे हृदय में रहती जो तुम निश्चल!

अथवा

सब से ऊपर निर्जन नभ में, अपलक सन्ध्या तारा,
नीरव औ, निस्सङ्ग, खोजता-सा कुछ, चिर-पथ हारा!
साँझ—नदी का सूना तट, मिलता है नहीं किनारा,
खोज रहा एकाकी जीवन साथी, स्नेह सहारा।

गुलदावदी कवि प्रकृति विषयक अनुभूति (Sensitiveness) का अत्यन्त व्यक्त एवं मूर्त अंकन है—

मृदुल दलों के अङ्ग जाल से फूट त्वचा-कोमल सुख,
सहृदय मानवीय स्पर्शों से हर लेता मन का दुख।

पन्तजी किस प्रकार प्रकृति में जीवन का रस लेते हैं इसके साक्षी 'त्वचा कोमल सुख' और 'मानवीय-स्पर्श'—ये दो वाक्यांश हैं।

यही बात भावों के क्षेत्र में भी है। भाव का वह अनगढ़ रूप (rawness) जो ग्राम्य जीवन के चित्रण में अपेक्षित है—ग्राम्या में प्रायः नहीं है—(चमारों का नाच एक अपवाद है) उसमें तो एक अतल स्पर्शिनी भावुकता मिलती है जो संस्कार की द्योतक है। 'वे आँखें' की कुछ पंक्तियाँ देखिए—

१—अन्धकार की गुहा-सरीखी उन आँखों से डरता है मन
२—ग्रस लेती दर्शक को वह दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन.

अथवा

१—बैठ, टेक धरती पर माथा, वह सलाम करता है झुक कर,
उस धरती से पाँव उठा लेने को जी करता है क्षण भर।
२—काली नारकीय छाया निज छोड़ गया वह मेरे भीतर।

(वह बुड्ढा)

ये उद्धरण एक दम रोमाण्टिक हैं—

पन्तजी के जीवन में जीवन का सङ्घर्ष और उपभोग साधारण व्यक्ति के जीवन की अपेक्षा कहीं कम रहा है और है। उनके जीवन में पलायन की प्रवृत्ति अन्य कवियो से अधिक है। उनका मानसिक अथवा बौद्धिक जीवन जितना सक्रिय रहा है, भौतिक जीवन उतना ही सङ्घर्ष से दूर। आज भी उनके जीवन में कर्म की अपेक्षा विचार और चिन्तन का ही प्राधान्य है। फलतः संघर्ष की ओर बौद्धिक आकर्षण रखते हुए भी वे उसमें रत होने की शक्ति प्राप्त नहीं कर सके। ग्राम्या की अनेक कविताओं में पलायन के स्पष्ट संकेत हैं। 'दिवास्वप्न' तो इस मनोस्थिति का दर्पण है। आज भी कवि 'नौका-विहार' करता हुआ सोचता है :—

यदि न डुबाता जल, रह कर चिरमृदुल तरलतर,
तो मैं नाव छोड़ गङ्गा के गलित स्फटिक पर,
आज लोटता ज्योति-तड़ित लहरों सँग जी भर।
किरणों से खेलता मिचौनी में लुक छिप कर,
लहरों के अञ्चल में फेन पिरोता सुन्दर।

ये पंक्तियाँ हमें गुञ्जन की सदृश पंक्तियों का स्मरण दिलाती हैं—(जब हमारे पन्तजी सुनते हैं, एस्केपिस्ट थे)

सुनता हूँ इस निस्तल जल में,
रहती मछली मोती वाली,
पर मुझे डूबने का भय है,
भाती तट की चल जल माली।

इस प्रकार आप देखें कि पन्तजी के सौन्दर्य मुग्ध हृदय और प्रगतिकामी बुद्धि में एक द्वन्द्व चल रहा है—जीव की भौतिक दृष्टि को वे अभी नहीं अपना सके। अभी वे भौतिकता और आध्यात्मिकता में भी समझौता नहीं कर पाये। महात्माजी की बात वे कितने ही

आग्रह से क्यों न कहें परन्तु सच तो यह है कि बापू और बापू के दर्शन के प्रति इनका मोह अभी छूटा नहीं है—

बापू ! तुम पर हैं आज लगे जग के लोचन
तुम खोल नहीं जाओगे मानव के बन्धन ! —बापू

युगवाणी में सिद्धान्त कथन अधिक होने के कारण यह द्वन्द्व कुछ अव्यक्त रहा, परन्तु ग्राम्या में आकर जहाँ कविता के बुद्धि-बन्धन ढीले हुए हैं, वह बहुत स्पष्ट हो गया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जहाँ हृदय और संस्कार विजयी हुए हैं वहाँ पन्तजी कवि रूप में सफल हुए हैं और जहाँ बौद्धिक विवेचन एवं सिद्धान्त का जोर रहा है वहाँ कविता गद्यमयी हो गई है।

आलोचनात्मक कविता और बौद्धिक रस

हृदय और बुद्धि का यह द्वन्द्व कवित्व और आलोचना के द्वन्द्व में व्यक्त होता है। और इस प्रकार आलोचनात्मक कविता का जन्म होता है। विदेशों में कविता का यह रूप चौसर के समय से ही उपलब्ध है, परन्तु हिन्दी में अभी नवीन ही है। इसमें एक प्रकार का बौद्धिक रस मिलता है जो अपने शास्त्रीय रस से भिन्न है। ये कविताएँ कवि के मन से निस्सृत होकर श्रोता के मन का स्पर्श नहीं करतीं। वे मस्तिष्क में उद्भूत होकर मस्तिष्क को ही प्रसन्न करती है—इनमें चित्त नहीं मस्तिष्क चमत्कृत होता है। परिचित वस्तु को उसके सच्चे रूप में सन्तुलित दृष्टिकोण से देख कर हम खुश होते हैं। उनमें कवि वस्तु में तन्मय नहीं होता वह अपना व्यक्तित्व पृथक रखता है और पाठक उसे पढ़ कर मन में कह उठता है, "हाँ ठीक है—यही मैं भी सोचता था" इसी को आचार्यों ने अभिज्ञान का आनन्द (Pleasure of recognition) कहा है। एक उदाहरण लीजिए—

सदाचार की सीमा उसके तन से है निर्धारित
पूत-योनि वह, मूल्य चर्म पर केवल उसका अंकित।

इन पंक्तियों को पढ़ कर आप रस-मग्न नहीं होते, उनमें मन को स्पर्श करने की शक्ति नहीं है, पर जैसे कोई बात जो कई बार आपके मन में उठती हो एक साथ आपको इतने स्पष्ट शब्दों में मिल गयी और आप अपना समर्थन पाकर प्रसन्न हो उठे, ऐसा ही कुछ इन कविताओं का बौद्धिक आनन्द है।

हास्य और व्यंग्य

आलोचना का सबसे समर्थ साधन है हास्य और व्यंग्य (Humour and irony) विशेषकर आलोचनात्मक कविता का, जिसमें शक्ति बहुत कुछ उक्ति-संक्षेप पर निर्भर है। अङ्गरेजी के प्रसिद्ध कवि चौसर, पोप, चैस्टरटन आदि जिन्होंने इस प्रकार की कविता लिखी है (मैं केवल शैली की बात कर रहा हूँ) हास्य और व्यंग्य के आचार्य थे। हमें खुशी है कि ग्राम्या में पन्त की काव्य-शैली अपने जीवन-काल में पहली बार इन दो गुणों से विभूषित हुई है। वैसे पन्तजी के पास ये दोनों शस्त्र थे अवश्य (पल्लव की भूमिका इसकी साक्षी है) परन्तु सौन्दर्य के चिन्तन और मनन में हास्य अथवा व्यंग्य के लिए स्थान ही नहीं था। ग्राम्या में जीवन की सीधी आलोचना करते हुए मन्त्र-सिद्ध शास्त्रों की भाँति वे उन्हें आप से आप प्राप्त हो गये। 'ग्रामवधू' परिष्कृत हास्य का उदाहरण है। पन्तजी की सूक्ष्म दृष्टि हास्य को उद्बुद्ध करने में बहुत सहायक हुई है और हमें हिन्दी कविता में बड़ी मुश्किल से ऐसा सूक्ष्म संकेतात्मक हास्य मिल सकता है—

> लो, अब गाड़ी चल दी भर-भर
> बतलाती धनि पति से हँस कर,
> सुस्थिर डिब्बे के नारी नर—,
> जाती ग्राम वधू पति के घर! —ग्राम वधू

परन्तु ग्राम्या का वातावरण हास्य की अपेक्षा व्यंग्य (irony) के अधिक अनुकूल है—क्योंकि हास्य का सौन्दर्य है उसकी निर्मलता एवं निरुद्देश्यता जो प्रकृति की कविता में सहज सम्भव नहीं। एक ओर कवि के मन में दुःख की मलिनता है, दूसरी ओर उसकी कृति के पीछे एक उद्देश्य है—अतएव व्यंग्योक्ति ही जो क्रोध और करुणा की सान पर चढ़ कर और भी नुकीली हो जाती है उसके ज्यादा काम आयी है। पन्त का व्यंग्य-बाण शत्रु और मित्र दोनों पर ही पड़ता है। पहले में क्रोध के विष में बुझ कर, दूसरे में करुणा की टीस लेकर—

> वह वर्ग-नारियों-सी न सुज्ञ, संस्कृत, कृत्रिम
> रञ्जित कपोल, भ्रू, अधर, अङ्ग सुरभित वासित।

अथवा 'सन्ध्या के बाद' में लाला सोच रहे थे—

दरिद्रता पापों की जननी,
मिटे जनों के पाप, ताप, भय,
सुन्दर हों अधिवास, वसन, तन,
पशु पर फिर मानव की हो जय!
व्यक्ति नहीं, जग की परिपाटी
दोषी जन के दुःख क्लेश की;
जन का श्रम जन में बँट जाये,
प्रजा सुखी हो देश-देश की!

पर— टूट गया वह स्वप्न वणिक का
आई जब बुढ़िया बेचारी
आधपाव आटा लेने—
लो, लाला ने फिर डण्डी मारी!

अब एक व्यंग्योक्ति मित्र पर देखिए—

घर में विधवा रही पतोहू,
लक्ष्मी थी यद्यपि पतिघातिन,
पकड़ मंगाया कोतवाल ने
डूब कुएं में मरी एक दिन।
खैर पैर की जूती जोरू
न सही एक दूसरी आती,
पर जवान बेटे की सुधि कर,
साँप लोटते, फटती छाती!

भाषा

पन्त की काव्य-भाषा के इतिहास में ग्राम्या का प्रकाशन एक घटना है। युगवाणी से पूर्व तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता था, उनकी भाषा भावों के अनुकूल, सूक्ष्म कोमल, जड़ी हुई और कढ़ी हुई थी। 'युगवाणी' में कवि ने अपने काव्य के रूप को बदलने का तो प्रयत्न किया परन्तु वे यह चित्रित साड़ी उसके ऊपर से नहीं उतार सके, अतएव गाँव के लोग उनकी बात न समझकर उन्हें गुमराह कहने लगे। बात कुछ ठीक भी थी, जन-साहित्य की भाषा इतनी एरिस्टोक्रेटिक हो यह अनुचित था। बस

पन्तजी ने ग्राम्या में आकर अपनी जन कविताओं को एक सादा-सी साफ धोती पहना दी—(यद्यपि गजी का लहँगा अभी नहीं पहना सके)। ग्राम्या की भाषा बहुत काफी नीचे उतर आयी है विशेषकर उन स्थलों पर जहाँ कवि स्वयं विवेचन करता हुआ पात्र की ओर से बोलता है अथवा ग्राम-वातावरण की सृष्टि करता है।

१— माँ कहती, रखना सँभाल घर
मौसी,—धनि, लाना गोदी भर,
सखियाँ, जाना मत हमें बिसर
जाती ग्राम वधू पति के घर! —ग्राम वधू

२— घमासान हो रहा है समर,
उसे बुलाने आये अफसर,
गोला फट कर आँख उड़ादे;
छिपा हुआ वह, उसे यही डर।

परन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि ऐसे स्थलों पर कवि अल्प-परिचय अथवा चयन रुचि के कारण भाषा-विषयक त्रुटि कर बैठा है—

विना दवा-दर्पण के ग्रहिनी
स्वरग चली, आँखें आतीं भर

यहाँ गृहिनी और स्वरग प्रयोग चिन्त्य हैं—गाँव का आदमी गृहिनी को घरनी, 'गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी' और स्वरग को सुरग कहेगा। कदाचित् पन्तजी के कान घरनी और सुरग को बर्दाश्त नहीं कर सकते। ऐसी दशा में हम पूछ सकते हैं कि फिर जरूरत ही क्या थी? कुछ प्रसङ्गों में तो यह अवश्य प्रतीत होता है कि कवि इस नवीन शब्दावली का प्रयोग बड़ी सावधानी से डरते-डरते कर रहा है। परन्तु ऐसे उदाहरण अनेक नहीं हैं और प्रायः पन्तजी की भाषा इन शब्दों के साथ निर्द्वन्द्व होकर खुल-खेल उठी है। नीचे के उद्धरण 'अ' में उसका चाञ्चल्य और 'आ' में उसकी चौड़ी शक्ति दर्शनीय है—

(अ) खींचती उबहनी वह, बरबस
चोली से उभर उभर कसमस
खिंचते संग युगरस-भरे कलश,

जल छलकाती
रस बरसाती
बलखाती वह घर को जाती
सिर पर घट
उस पर धर पट।

—ग्राम युवती

(आ) उसका लम्बा डील डौल है,
हट्टी कट्टी काँठी चौड़ी।
इस खँडहर में बिजली-सी,
उन्मत्त जवानी होगी दौड़ी।

इस प्रकार ग्राम्या में पन्त की कविता एक बार फिर जीवन से जगमग हो उठी है, उसको पढ़ कर ऐसी धारणा होती है जैसे युग-वाणी की प्रगतिगामी कविता पल्लव के रंगों में स्नान कर आयी हो। पन्तजी अब तक अपनी हलकी मधुरता के कारण मन को मुग्ध करते थे, ग्राम्या में थोड़ी कड़वाहट भी मिल गई है—और उसका स्वाद कसैला हो गया है। अतएव उसमें जीवन की चहल-पहल तो है परन्तु महान् की शक्ति नहीं है। युगान्त से पूर्व उन्होंने जिस रम्य पथ का अनुसरण किया था वह पराग से आकीर्ण था इसलिए उनकी कविता को लघु-लघु चरणों से चलते देख हमें सुख होता था—आज उन्होंने जन-जीवन का बीहड़ पकड़ा है जिसमें अनेक खाड़-खड्ड और झाड़-झंखाड़ हैं। अतः उन पर चलने के लिए चौड़े डगों की आवश्यकता है। इसमें सुन्दर की अपेक्षा महान् की उपासना श्रेयस्कर होगी। ग्राम्या में ऐसी कविताएँ विरल हैं—

१—ग्राम देवता। २—वह बुड्ढा। ३—ग्राम। ४—भारत-माता। ५—राष्ट्रगान।

इतने से हमारी मनस्तृप्ति नहीं होती। हम अभी कुछ और चाहते हैं।

विकास-सूत्र

पल्लव और गुञ्जन, युगवाणी और ग्राम्या—बीच में कितना विशाल अन्तराय है, परन्तु ध्यान से देखने पर अन्तसूत्र बड़ी सरलता से पकड़ा जा सकता है। युगान्त के उपरान्त युगवाणी, और उसके उपरान्त ग्राम्या एक क्रमिक विकास के ही मार्ग चिह्न हैं। पन्त के कवित्व की प्रगति-रेखा चाहे टेढ़ी-मेढ़ी हो, परन्तु उनके विचार का विकास सीधा और स्पष्ट है।

पन्तजी का व्यक्तित्व असामान्य है, उनमें भावना का सौकुमार्य साधारण व्यक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक है—इतना कि वे जीवन के सङ्घर्ष में जम कर खड़े नहीं हो सकते। उनका जीवन भर अविवाहित रहना, जीविका के प्रश्न की ओर से बहुत कुछ विमुख रहना, कभी स्थायी रूप से कहीं न बसना आदि बातें इसका पुष्ट प्रमाण हैं। पहले सुना करते थे—पन्तजी अपने आप टिकट भी नहीं खरीद सकते। इस प्रकार उनका समस्त जीवन ही साधारण व्यक्ति की दृष्टि में एक पलायन, एक एस्केप है, और यही पलायन-वृत्ति उनकी सौन्दर्य साधना की जननी है। जीवन का एकाकीपन इस साधना में और भी सहायक हुआ। अतएव वह निरन्तर एकान्त एवं अन्तर्मुखी होती गई। कवि को अपनी मधुरता से मोह होने लगा—वह अपने ही मधु में लिपटने लगा। यह जीवन क्षय का लक्षण था, और पन्तजी को व्यक्त हो गया कि—

> तुम्हें तुम्हारा मधुर शील कर रहा अजान पराजित,
> वृद्ध हो रही हो तुम प्रतिदिन नहीं हो रही विकसित।
>
> (कला के प्रति)

यह एक तीखा सत्य था जिसको सौभाग्य से उन्होंने शीघ्र ही प्राप्त कर लिया, अन्यथा महादेवी वर्मा और रामकुमार जैसे अन्य सौन्दर्य कवियों की भाँति उनको भी अभिव्यक्ति का कोई दूसरा मार्ग टटोलना पड़ता। अमूर्त सौन्दर्योपासना जो जीवन के उपभोग से पोषण-सामग्री ग्रहण नहीं करती, एक विशेष सीमा पर जाकर रुक

जाती है—कुछ समय के उपरान्त जैसे वह अपनी सूक्ष्मताओं की जाली में उलझ कर गति-बद्ध हो जाती है। पन्तजी को भी अपनी बारीकियो से अरुचि होने लगी और उनकी कविता विकास के लिए—जीवन के सम्पर्क में आने के लिए व्याकुल हो उठी।

परन्तु पन्तजी का प्रत्यक्ष जीवन से सीधा संसर्ग नहीं था, अतएव उन जैसे कवि का केवल मानसिक (बौद्धिक) विकास ही सम्भव हो सकता था—और वह हुआ भी। मैं पूर्वार्ध में निवेदन कर चुका हूँ कि किस प्रकार उनकी विचार-धारा का क्रमिक विकास हुआ और ज्योत्स्ना तथा युगान्त में आकर उनका मानववाद पुष्ट हो गया। परन्तु युग-जीवन की गति आज तीव्र हो गई है और मानववाद भी उसके लिए आउट ऑव डेट हो गया है। निदान पन्तजी की चिर-चेतना मेधा गान्धीजी के विकसित मानववाद को छोड़ मार्क्सवाद पर मुग्ध हो गई। पश्चिम के प्रगतिवाद का उनके मन पर प्रभाव पड़ा और स्वभाव से सूक्ष्म सौन्दर्य-ग्राही होते हुए भी वे उनके भौतिक सत्यों को आग्रह-पूर्वक पकड़ने लगे।

आज हिन्दी-प्रगतिवादी कवियों में पन्तजी सृजन और निर्माण के कवि हैं—श्री शिवदानसिंहजी ने उन्हें भविष्य का कवि कहा है। स्वयं पन्तजी को भी इस बात की चेतना है :—

(१) तुम जड़चेतन की सीमाओं के आर पार
झंकृत भविष्य का सत्य कर सको स्वराकार!

(२) जन मानव गौरव पर विस्मित; मैं भावी चिन्तन पर!

(३) कल्पना पुत्र मैं, भावी द्रष्टा, निराधार!

उनकी यह भविष्य-सृष्टि विकास की उसी परम्परा में आती है जिसकी ओर मैं अभी संकेत कर चुका हूँ। कवि की पलायन वृत्ति अपने को तीन रूपों में व्यक्त करती है—१—एकान्त-सौन्दर्य-साधना में, २—पुरातन के पुनरोत्थान में, ३—भविष्य की सृष्टि में। पलायन का मूल है अपने में वर्तमान विषमताओं के समाधान की शक्ति का अभाव देखना—अर्थात् उनसे मानसिक पराजय स्वीकार कर लेना, अतएव पलायनशील व्यक्ति अपनी तुष्टि के लिए उपर्युक्त तीन मार्गों का ही अवलम्बन करता है। पहले में वह एक पूर्ण कल्पना-लोक की सृष्टि कर इन विषमताओं पर विजय प्राप्त करता है, दूसरे में पूर्ण पुरा-

तन की शरण लेता है, और तीसरे में एक ऐसे आदर्श लोक की मानसी सृष्टि करता है जिसमें यह सब हो ही न। वास्तव में इन तीनों की मूल चेतना में ऐस्केप के साथ-साथ एक आदर्शवाद लगा हुआ है। संसार के सभी भाव-कोमल कवियों ने ऐसा किया है—शैली, कीट्स, ब्रिजेज, येट्स, डी ला मेयर आदि विदेशी कवियों के उदाहरण सहज प्राप्त हैं। ज्योत्स्ना में हम देख चुके हैं कि पन्तजी ने किस प्रकार शैली की भाँति विकसित मानववाद और काल्पनिक समाजवाद के सहारे पूर्ण भविष्यत की कल्पना की थी—वही आज मार्क्स के सिद्धान्तों में ढलकर—ईषत् भिन्न रूप में हमारे सामने है। पहले में कल्पना और भावुकता थी, दूसरे में भौतिकता और विवेक है। परन्तु हमें न भूलना चाहिए कि यह भी पन्तजी की आदर्श भावना (idealism) का एक रूप है।

दो उद्धरण लीजिए : "जिस प्रकार यह (पृथ्वी) बाहर से एक है उसी प्रकार भीतर से भी इसे एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट संस्कृति की आवश्यकता है। यह समस्त विश्व-चक्र एक ही अखण्डनीय सत्ता है, एक ही विराट शक्ति के नियमों में सञ्चालित है। मानव जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गई है। उसे इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पास में बाँध कर समस्त विभिन्नता को एक विश्व जनीन स्वरूप देकर नियन्त्रित करना होगा।"

(ज्योत्स्ना)

"मनुजों की लघु चेतना मिटे, लघु अहङ्कार,
नव युग के गुण से विगत युगों का अन्धकार।
हो शान्त जाति-विद्वेष, वर्ग-गत रक्त समर
हो शान्त युगों के प्रेत, मूक मानव अन्तर!
संस्कृत हों सब जन, स्नेही हों, सहृदय सुन्दर,
संयुक्त कर्म पर हो संयुक्त विश्व निर्भर।
राष्ट्रों से राष्ट्र मिलें, देशों से देश आज,
मानव से मानव,—हो जीवन-निर्माण-काज।
हो धरणि जनों को, जगत स्वर्ग जीवन का घर
नव मानव को दो प्रभु, भव मानवता का वर।

इन दोनों में मूलतत्त्व का अन्तर नहीं है—पहले में आत्मा

की एकता, दूसरे में भव-मानवता पर जोर है—बस।

शैली के विषय में भी यही बात है। युगवाणी और ग्राम्या की निर्लिप्त बौद्धिक शैली भी पन्तजी की काव्य-परम्परा की ही एक कड़ी है—वह कोई अप्रत्याशित परिवर्तन नहीं है। हम देख चुके हैं कि पन्तजी का चिन्तन आरम्भ से ही अनुभूति की चिनगारी पर जल छिड़कता रहा है। पल्लव के उपरान्त उनकी शैली का भावोच्छ्वास क्षीण होता गया है और चिन्तन क्रमशः सघन—युगान्त तक आते-आते उनकी शैली चिन्तन-विजड़ित और काफी ठण्डी हो गयी थी। इस प्रकार युगवाणी के गीत गद्य और उसके उपरान्त ग्राम्या की आलोचनात्मक कविता के लिए पहले से ही भूमि तैयार थी बस आध्यात्मिक चिन्तन और भौतिक स्थूलवाद दोनों ने मिलकर वर्तमान मूर्त बौद्धिक शैली को जन्म दिया और आज की आलोचना-प्रधान शैली के मूल में वही वर्धमान चिन्तन तत्त्व है।

अन्त में, पन्तजी की मेधा की सक्रिय शक्ति देख कर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। परन्तु इतना अवश्य मन में आता है कि उनकी निरन्तर प्रगतिशील प्रतिभा अभी सत्य को प्राप्त नहीं कर सकी। वह आगे को बढ़ती जाती है, परन्तु उसमें गति के साथ वांछित पुष्टता का अभाव है। गति में बल है, परन्तु स्थिति में दृढ़ता है, जब इन दोनों का संयोग हो जाता है तभी व्यक्ति महत्ता को प्राप्त करता है। यह प्राप्ति चिन्तन और विचार के साथ ही भोग और अनुभव के आश्रित है। पन्तजी के व्यक्तित्व का पहला अङ्ग जितना बलवान है, दूसरा उतना ही दुर्बल अतएव प्राप्ति उनसे अभी दूर ही है और उसी अनुपात से महत्ता भी। फिर भी हमारे वर्तमान के निर्माताओं में उनका गौरव अद्वितीय है—एक ही व्यक्ति ने अपने अल्पकाल में साहित्य की गति को दो बार, दो विभिन्न दिशाओं में मोड़ दिया हो—ऐसा दूसरा उदाहरण अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।

पन्त का नवीन जीवन-दर्शन

स्वर्ण धूलि और स्वर्ण-किरण

युगवाणी और ग्राम्या की आलोचना करते हुए आज से आठ नौ वर्ष पूर्व मैंने लिखा था कि मार्क्सवाद में श्री सुमित्रानन्दन पन्त का व्यक्तित्व अपनी वास्तविक अभिव्यक्ति नहीं पा सकता। जीवन के भौतिक मूल्य पन्त के संस्कारी व्यक्तित्व को तृप्त नहीं कर सकते। उनका सूक्ष्म-चेता मन उन बुद्धिगृहीत भौतिक मूल्यों के विरुद्ध उस समय भी बार-बार विद्रोह कर रहा था और ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता था कि वे शीघ्र ही फिर उसी परिचित पथ पर लौट आयेंगे। कारण स्पष्ट है: पन्त के व्यक्तित्व में वह काठिन्य और दृढ़ता नहीं है जो मार्क्सवादी विश्वासों के लिए अपेक्षित है। मार्क्सवाद का भौतिक-सङ्घर्ष, निरीश्वरवाद अथवा अनात्मवाद पन्त जैसे कोमल-प्राण व्यक्ति का परितोष नहीं कर सकते। उसके लिए आस्तिकता अनिवार्य हो जाती है। और आत्मा और ईश्वर में ही अन्त में उसे जीवन और जगत का समाधान मिलता है। अतएव स्वर्ण-धूलि-और स्वर्ण-किरण का प्रकाशन और उनमें अभिव्यक्त पन्त का परिवर्तित दृष्टिकोण हमारे लिए कोई आश्चर्य की बात नहीं है। मानव मनोविज्ञान से अभिज्ञ, संस्कारों में विश्वास रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति उसे स्वाभाविक घटना मानेगा।

यों तो स्वर्ण-धूलि और स्वर्ण-किरण में कई प्रकार की कवितायें हैं। अनेक कविताओं का धरातल सामाजिक है, कुछ कविताएँ आत्मगत हैं जो परिष्कृत मधुर रस से अभिषिक्त हैं, कतिपय कविताएँ प्रकृति सम्बन्धी भी हैं, परन्तु अधिकांश कविताएँ आध्यात्मिक हैं। ग्रन्थि से पल्लव और पल्लव से गुञ्जन, ज्योत्स्ना और युगान्त में पन्तजी क्रमशः शरीर से मन और मन से आत्मा की ओर बढ़ रहे थे, बीच में युगवाणी और ग्राम्या में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। मार्क्स के वस्तु वादी जीवन दर्शन ने उन्हें आकृष्ट किया और वे अपने सहज मार्ग से थोड़ा हट गये। उस समय भी उनकी आध्यात्मिक चेतना लुप्त नहीं हुई थी। युगवाणी और ग्राम्या दोनों में भी उन्होंने

अति भौतिकवाद का निषेध करते हुए आत्म-सत्य और वस्तु-सत्य के समन्वय पर बल दिया है। परन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि उस काल-खण्ड की कविताओं में भौतिक सत्य का ही प्राधान्य है। चेतन पर वस्तु सत्य का प्रभुत्व है यद्यपि अवचेतन में आत्म सत्य की सत्ता का अन्त नहीं हुआ है। यह परिस्थितियों की प्रतिक्रिया मात्र थी और एक बौद्धिक स्वीकृति से अधिक नहीं थी। परिस्थिति के दूसरे मोड़ पर प्रकृत संस्कार फिर उभर आये और पन्तजी वस्तु से आत्मा की ओर फिर से प्रवृत्त हो गये—

सामाजिक जीवन से कहीं महत् अन्तर्मन्,
वृहत् विश्व इतिहास, चेतना गीता किंतु चिरन्तन।

उनका विकास पथ भी निसर्गतः यही है और इसकी चेतना उन्हें स्पष्ट है—

दीप-भवन युग विद्युत युग से ज्यों दिक् शोभित,
मन का युग हो रहा चेतना युग में विकसित?

परन्तु इस आध्यात्मिकता का स्वरूप स्पष्ट करना आवश्यक है। यह आध्यात्मिकता साम्प्रदायिक अथवा धार्मिक नहीं है। और न यह रहस्यवाद ही है। यह आध्यात्मिकता मनोवैज्ञानिक है। इसका सम्बन्ध सूक्ष्म चेतना से है। पन्तजी का आत्मा की सत्ता में अटल विश्वास है। परन्तु वे आत्मा को चेतना का सूक्ष्म रूप मानते हैं, अपने में सर्वथा निरपेक्ष भौतिक जीवन से एकान्त अविष्कृत उसका अस्तित्व नहीं है। और स्पष्ट शब्दों में मानव हृदय की विभूतियों का चरम विकास मिलता है। उनसे रहित शुद्ध-बुद्ध अथवा निर्लिप्त रूप, नकारात्मक एवं निवृत्ति-मूलक पन्त को अग्राह्य है। उन्होंने जिस आध्यात्मिक चेतना की कल्पना की है उसमें भौतिकता का परिष्कार है, तिरस्कार नहीं है, उन्नयन है दमन नहीं है।

'आज हमें मानव मन को करना आत्मा के अभिमुख'

परन्तु साथ ही—

वही सत्य कर सकता मानव जीवन का परिचालन,
भूतवाद्र हो जिसका रज-तन प्राणिवाद जिसका मन,
'औ' अध्यात्मवाद हो जिसका हृदय गम्भीर चिरन्तन।

(लोक सत्य)

तीसरी रे भूख आत्मा की गहन !
इन्द्रियों की देह से ज्यों है परे मन ॥
मनोजग से परे ज्यों आत्मा चिरन्तन !
जहाँ मुक्ति विराजती
औ डूब जाता हृदय-क्रन्दन !
वहाँ सत् का वास रहता,
वहाँ चित् का लास रहता,
वहाँ चिर उल्लास रहता,
यह बताया योग दर्शन।
किन्तु ऊपर हो कि भीतर,
मनोगोचर या अगोचर,
क्या नहीं कोई कहीं ऐसा अमृतघन,
जो धरा पर बरस भर दे भव्य जीवन ?
जाति वर्गों से निरख जन
अमर प्रीति प्रतीति में बँध
पुण्य जीवन करें यापन।
औ धरा हो ज्योति पावन

प्रवृत्तिमय होने के कारण यह आध्यात्मिकता स्वभावतः आनन्द-रूपिणी है—इसमें आत्मा का सात्विक उल्लास है। भूत रत जीवन के काले लौह पाश से मुक्त अन्तश्चेतना का सोना है। भौतिकता अथवा भूत लिप्सा मरणोन्मुखी और नाशमयी है और आत्मा का सहज उल्लास सृजनशील है। अतएव पन्त की इस नवीन आध्यात्मिक चेतना में प्रेम के माधुर्य से समन्वित जीवन की जागृति, सृजन की स्फूर्ति और निर्माण-स्वप्नों का राशि सौन्दर्य वैभव है—

खुला अब ज्योति द्वार,
उठा नव प्रीति ज्वार,
सृजन शोभा अपार।
कौन करता ऽभिसार,
धरा पर ज्योति भरण
हँसी लो स्वर्ण किरण।

यह आध्यात्मिकता वैसे तो पन्तजी की काव्य चेतना का सहज

विकास था परन्तु इसका तात्कालिक कारण उनकी रुग्णता भी है। कुछ समय पूर्व पन्तजी उस स्थिति पर पहुँच गए थे जहाँ से मृत्यु दृष्टिगोचर होने लगती है। मृत्यु के उस अन्ध तमस को भेद कर नव-जीवन की स्वर्ण किरण का उल्लास स्वभावतः जीवन-दर्शन में परिवर्तन की अपेक्षा करता है। वास्तव में मृत्यु-जीवन की भौतिकता के लिए सबसे बड़ी ललकार है—आज से शत सहस्र वर्ष पूर्व मानव चेतना के उस नव प्रभात में वैदिक ऋषि ने मानव को भौतिक लिप्साओं से सावधान करने के लिए ही तो कहा था : 'ओं क्रतो स्मर' 'कृतं क्रतो स्मर।' मृत्यु की चेतना जीवन के स्थूल तथ्यों को भेद कर उसके सूक्ष्म सत्यों को अनायास ही उद्घाटित कर देती है। अतएव कवि को स्थूल से सूक्ष्म की ओर वस्तु से आत्मा की ओर प्रेरित करने के लिए उसकी इस रुग्णता ने भी कम से कम परिस्थिति का कार्य अवश्य किया है। पन्त जैसे व्यक्ति के जीवन में वैसे ही कटुता के लिए स्थान कम था, जो कुछ थी वह इस अग्नि में जल कर निःशेष हो गई—अब उसमें प्राणों का अमृत है, नव जीवन, आशा, उल्लास है।

इस अध्यात्म चेतना का मूल तत्त्व है समन्वय—व्यष्टि और समष्टि अर्थात् ऊर्ध्व विकास और समदिक् विकास का समन्वय, बहिरन्तर अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक जीवन का समन्वय—जिसे पाश्चात्य दर्शन में विज्ञान और ज्ञान, और प्राच्य दर्शन में अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (ब्रह्मज्ञान) कहा गया है—

'ब्रह्म ज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व, समन्वय,
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।
आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन,
ज्योति-केतु ऋषि दृष्टि करे उन दोनों का सञ्चालन।
बहिरंतर की सत्यों का जगजीवन में कर परिणय,
ऐहिक आत्मिक वैभव से जन-मङ्गल हो निःसंशय।

यही मानव का देवत्व है जिसमें कि जीवन के स्वर्णिम वैभव पर आत्मा का अवतरण प्रतिष्ठित है; इसी के आधार पर विश्व संस्कृति की स्थापना हो सकती है जो इस युग की समस्याओं का एक मात्र समाधान है। आज के द्रोहरत मानव की यही मुक्ति है और यह समाधान युग का सामयिक सत्य नहीं है। युग-युग का शाश्वत् सत्य

है। मानव जीवन की चिरन्तन समस्या का चिरन्तन समाधान है। आज से सहस्रों वर्ष पूर्व हमारे उपनिषद् इसकी घोषणा कर चुके हैं—

अंधं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
विद्यांचाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्या मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥

व्यक्तित्व विकास की दृष्टि से पन्तजी इस समय जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँच गए हैं। जीवन की यह वह अवस्था है जहाँ स्वयम् कवि के शब्दों में—

रूप रंगों का चित्र जगत
सिमट, घुल, हो अनुभव अवगत
विचारों भावों में परिणत,
नियम चालित लगता संतत।
भिन्न रुचि प्रकृति नहीं कल्पित,
एकता में वे आलिंगित,
विकर्षण-आकर्षण से नित्य
हो रहा जग जीवन विकसित।

अर्थात् पल्लव के सौन्दर्य-कवि के मानस का रूप-रङ्ग प्रौढ़ि की इस अवस्था में जीवन के अनुभवों से घुल कर विचार और भाव में परिणत हो गया है। यौवन-सुलभ रोमानी उल्लास चिन्तन और विचार में परिणत हो गया है और जीवन के वैचित्र्य में उसे एकता की अनुभूति होने लगी है। अब विकर्षण और आकर्षण एक ही सत्य के दो रूप होने के कारण एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जीवन और जगत के विकास में उन दोनों का समान योग है। इसीलिए आज वह समन्वय की अमोघ औषधि लेकर विश्व का वर्तमान व्याधियों का उपचार करने के लिये आगे बढ़ता है। वह देखता है कि आज मानव जाति, वर्ण, वर्गों में विभक्त है। पृथ्वी का वक्ष राष्ट्रों के कटु स्वार्थों से खण्डित हो रहा है। अर्थ-व्यवस्था सर्वथा छिन्न-भिन्न हो जीवन के मन्दिर में हँसती हुई मानव मूर्ति के स्थान पर यन्त्रों की मूर्ति प्रतिष्ठित है। इस प्रकार जनगण के रक्तप्राण का शोषण हो रहा है। उधर सामाजिक जीवन पूर्णतः विश्रृङ्खल हो गया है। मध्य वर्ग

कृमिव्यूह की तरह क्षुद्र स्वार्थों में ग्रस्त है। अर्थदस्यु उच्चवर्ग धन-मद से अन्धा हो रहा है। सारा जीवन अहम्मन्यता और अन्ध लालसा से काँप रहा है। उधर बौद्धिक दृष्टि से आज समाज में चार वर्ग मिलते हैं:—एक बुद्धि-प्राण वर्ग, दूसरा धर्म-प्राण वर्ग, तीसरा राजनीतिक वर्ग और चौथा वर्ग उन नवशिक्षितों का है जिनका कोई विशिष्ट एवं निश्चित दृष्टिकोण नहीं है, जो विचारहीन जीवन व्यतीत करते हैं। इनमें पहला वर्ग तर्कों, वादों और सिद्धान्तों के जाल में उलझा हुआ है। दूसरा धर्म-प्राण वर्ग धर्म की आत्मा को भूल उसीके बाह्य स्थूल रूपों, रीति-नीति और शाखा पन्थों से आगे नहीं बढ़ पाता। राजनीतिक वर्ग जीवन के रचनात्मक कार्यों को छोड़ ध्वंसात्मक कार्यों में अपनी सारी शक्ति लगा रहा है। रह गया चौथा वर्ग, उसमें सोचने की शक्ति ही नहीं है। नवशिक्षा ने उसे पूर्णतः भाग्यवादी बना दिया है। उसके प्राप्य हैं स्त्री, धन, पद, मान, बस; इनके आगे उसकी चेतना की गति नहीं है।

कवि इस सार्वभौम अधःपतन के कारण पर विचार करता है तो उसे ज्ञात होता है कि इस सम्पूर्ण ह्रास का मूल कारण है जीवन में सन्तुलन (समन्वय) का अभाव।

आज का मानव बाह्य जीवन में इतना खोया हुआ है कि वह अपने अन्तः स्वरूप को सर्वथा भूल गया है। वाष्प, विद्युत और किरण आज मानव के वाहन हैं, यहाँ तक कि भूत शक्ति का मूल स्रोत भी आज अणु ने समर्पित कर दिया है। वह वनस्पति और पशु जग का विकास कर सकता है, गर्भाशय में जीवन अणु को भी ऊर्जित करने की क्षमता उसने प्राप्त करली है। एक प्रकार से सम्पूर्ण दिशा काल पर उसका अधिपत्य है—

दिशा काल के परिणय का रे मानव आज पुरोहित !

परन्तु फिर भी आज वह सर्वाधिक दुखी और विषण्ण है। क्योंकि उसका अन्तर्जीवन सर्वथा उपेक्षित है—परिणामतः उसके बहिर्जीवन और अन्तर्जीवन का सामञ्जस्य नष्ट हो गया है—

बहिर्चेतना जाग्रत जग में अन्तर्मानव निद्रित,
बाह्य परिस्थितियाँ जीवित, अन्तर्जीवन मूर्छित, मृत।

जब तक यह सामञ्जस्य फिर से स्थापित नहीं होता, संसार

की समस्या हल नहीं हो सकती। आज आवश्यकता इस बात की है कि भौतिक वैभव और आत्मिक ऐश्वर्य, विज्ञान और दर्शन के समन्वय द्वारा मानव के वास्तविक स्वरूप की प्रतिष्ठा की जाय। तभी मानव जातियों और राष्ट्रों में खण्डित मानवता, मानवीय एकता का साक्षात्कार कर सकेगा और तभी आज के मानव की मुक्ति सम्भव है। इस प्रकार राष्ट्रों और वर्गों की अनेकता में मानव एकता की स्थापना—यही कवि के अनुसार आज की विषमताओं का समाधान है। व्यक्तिगत साधनों के क्षेत्र में कवि और आगे बढ़ता है और अनेकता में एकता की यह अनुभूति भौतिक तत्त्वों से ऊपर उस परम तत्त्व तक पहुँचती है—

> अन्न प्राण मन आत्मा केवल
> ज्ञान भेद सत्य के परम,
> इन सबमें चिर व्याप्त ईश रे,
> मुक्त सच्चिदानन्द चिरन्तन!

यह कोई नवीन दर्शन नहीं है, शास्त्रीय शब्दावली में वह भारतीय अद्वैतवाद की पीठिका पर यूरोप के मानववाद की प्रतिष्ठा है जो आज से कुछ दिन पूर्व कवीन्द्र रवीन्द्र कर चुके थे। वैसे तो अद्वैतवाद और मानववाद दो विशिष्ट दर्शन प्रतीत होते हैं। एक पूर्व का दूसरा पश्चिम का है, एक प्राचीन दूसरा नवीन है, इस तरह की कुछ धारणा मन में होती है। परन्तु तात्विक विश्लेषण करने पर मानववाद अद्वैतवाद का ही एक प्रोद्भास मात्र है। अद्वैतवाद का मूल आधार है अनेकता में एकता का ज्ञान, अर्थात् विश्व की प्रतीयमान अनेकता मिथ्या है, उसमें अनुस्यूत एकता (एक तत्त्व) ही सत्य है। एकान्त व्यक्तिगत साधना के क्षेत्र में तो साधक उस एकता (एक तत्त्व) से सीधा साक्षात्कार करने के प्रयत्न में अनेकता को मिथ्या मानकर उसकी ओर से सर्वथा पराङ्मुख हो गया। परन्तु जब वह सामाजिक दृष्टिकोण लेकर साधना में अग्रसर हुआ तो उसने अनेकता (जगत) को मिथ्या नहीं माना—वरन् इस अनेकता की धारणा को मिथ्या माना। स्थूलतः जो अनेक नाम रूप दिखाई देते हैं, वे उसी एक रूप के अनेक प्रतिबिम्ब होने के कारण उससे अभिन्न हैं। इस प्रकार जगत में स्व और पर का भाव, महान् और लघु का भाव, उच्च और निम्न

का भाव, अर्थात किसी प्रकार का भी पार्थक्य का भाव मिथ्या है। विधातृ की सृष्टि के सभी प्राणी कीरी और कुञ्जर समान हैं। मानव जगत में राजा-रङ्क, धनी-निर्धन, ब्राह्मण और क्षुद्र आधुनिक शब्दावली में जाति, वर्ण, वर्ग आदि का भेद भ्रान्ति है। सभी मानव समान हैं और उस परम शक्ति का प्रतिबिम्ब होने के कारण मूलतः श्रेष्ठ हैं। कबीर और उनके सहयोगी सन्तों ने इसी आध्यात्मिक मानववाद का अपने जीवन और काव्य में प्रतिपादन किया था। आधुनिक युग में कवीन्द्र रवीन्द्र ने पश्चिम की मानववादी विचारधारा से भी प्रभाव ग्रहण कर इसी को नवीन रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने विश्व बन्धुत्व सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।

रवीन्द्र का यही विश्व-बन्धुत्व पन्त में विश्व संस्कृति बन गया है—

हमें विश्व संस्कृति रे, भू पर करनी आज प्रतिष्ठित,
मनुष्यत्व के नव द्रव्यों से मानव-उर कर निर्मित।

रवीन्द्र पर जहाँ पूर्ववर्ती मानववादी दार्शनिकों का प्रभाव था, पन्त पर वहाँ परवर्ती मनोवैज्ञानिकों एवं मनोविश्लेषकों का प्रभाव है। इसीलिए उन्होंने मानव एकता की साधना के लिए आत्म-संस्कार को साधन माना है—

मानवीय एकता जातिगत मन में करनी स्थापित,
मनःस्वर्ग की किरणों से मानव सुखश्री कर मण्डित।
भूतों की चिर पावनता में
हृदय सहज करता अवगाहन।

यह 'मनःस्वर्ग' आत्म संस्कार (Sublimation) का ही काव्यमय नाम है।

पन्तजी की इस जीवन दर्शन की ओर आरम्भ से प्रवृत्ति रही है। ज्योत्स्ना जिसमें कि उन्होंने पहली बार अपने विचारों की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति की है, मानववाद की सबल उद्घोषणा है। युगान्त में कवि ने इसमें आध्यात्मिक रङ्ग देना आरम्भ किया था परन्तु युग-वाणी और ग्राम्या में मार्क्स-दर्शन के प्रभाववश उसकी चिन्तन-प्रवृत्ति बहुत कुछ बहिर्मुखी हो जाने से इस चिन्ताधारा का स्वाभाविक विकास-क्रम टूट गया। अन्त में सन् १९४४ की अस्वस्थता ने

उसे पुनः अन्तर्मुख चिन्तन पर बाध्य किया और स्वर्ण धूलि तथा स्वर्ण-किरण में उपर्युक्त चिन्ताधारा अपनी सहज परिणति को प्राप्त हो गई।

प्रकृति—पन्तजी मूलतः प्रकृति के कवि हैं। उनकी काव्य-चेतना के निर्माण में प्रकृति का विशेष प्रभाव है, और स्वभावतः उनके कवि व्यक्तित्व के विकास के साथ-साथ प्रकृति के प्रति उनके दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहा है। 'स्वर्ण-किरण' में जीवन की भाँति प्रकृति के प्रति भी कवि की चेतना में एक सहज सात्विक भावना का समावेश हो गया है। ऐन्द्रिय उपभोग की भावना जो पन्तजी में पहले भी अत्यन्त संयमित थी, इन रचनाओं में प्रायः निःशेष हो चुकी है और कल्पना के स्थान पर अनुभूति और चिन्तन का प्रभुत्व हो गया है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन नवीन प्रकृति चित्रों में रूप रङ्गों का वैभव अब नहीं रहा—वास्तव में रूप रङ्ग का इतना प्राचुर्य्य पहली किसी कृति में नहीं मिलता। पल्लव, गुञ्जन, ज्योत्स्ना आदि के रङ्ग इनमें आकर एक ओर पक्के और दूसरी ओर अत्यधिक सूक्ष्म तरल हो गये हैं, साथ ही उनकी विविधता और वैचित्र्य में भी वृद्धि हुई है। परन्तु इस वैभव और वैचित्र्य में एक निर्मल सात्विक उल्लास है जो इन्द्रियों के मांसल उपभोग की अभिव्यक्ति न होकर आत्मा की विशदता का प्रकाशन है। कैशोर्य-सुलभ विस्मय और यौवन-सुलभ उपभोग का स्थान अब प्रौढ़ि के संयत-गम्भीर आनन्द ने ले लिया है :—

> भूतों की चिर पावनता में.
> हृदय सहज करता अवगाहन।

जो उसे चिन्तन की ओर प्रेरित करता है—

> निभृत स्पर्श पाकर निसर्ग का।
> आत्मा गोपन करती चिन्तन।

सामाजिक चेतना—तीसरा वर्ग सामाजिक कविताओं का है। इनकी सामाजिक चेतना का आधार वही आत्म-परक मानववाद है जिसका विश्लेषण ऊपर किया जा चुका है।

इस समाज दर्शन में जीवन के अतिरिक्त तत्वगत् (Essential) मूल्यों का ही महत्त्व है, बाह्य औपचारिक मूल्यों का नहीं।[1]

सदाचार, देश-प्रेम, सामाजिक प्रगति, राजनीतिक उत्कर्ष आदि का मूल्याङ्कन भौतिक उपकरणों द्वारा नहीं वरन् मानसिक एवं आत्मिक उपकरणों के द्वारा ही किया जा सकता है।

सदाचार—'पतिता' कविता में जबकि—

क्रूर लुटेरे हत्यारे कर गये,
बहू को नीच कलङ्कित।
और, फूटा करम, धरम भी लूटा
शीष हिला रोते सब परिजन,
हा अभागिनी! हा कलङ्किनी!
खिसक रहे गा-गा कर पुरजन।

तो बहू का पति केशव उसको सस्नेह ग्रहण करता हुआ कहता है—

मन से होते मनुज कलङ्कित
रज की देह, सदा से कलुषित
प्रेम पतित पावन है, तुमको
रहने दूँगा मैं न कलङ्कित!

इसी प्रकार 'परकीया' में पातिव्रत की व्याख्या करता हुआ कवि कहता है—

पति-पत्नी का सदाचार भी
नहीं मात्र परिणय से पावन,
काम निरत यदि दम्पति जीवन
भोग मात्र का परिणय साधन।
पंकिल जीवन में पंकज सी
शोभित आप देह से ऊपर,
नहीं सत्य जो आप हृदय से,
शेष शून्य जग का आडम्बर।

आप देखें कि इन दोनों उद्धरणों का सारांश बिल्कुल एक है—

मन से होते मनुज कलङ्कित
रज की देह सदा से कलुषित।

और

वही सत्य, जो आप हृदय से।

सामाजिक उत्कर्ष—इसी प्रकार सामाजिक उत्कर्ष के लिये भौतिक विभव की अपेक्षा मानव गुणों का उत्कर्ष ही अधिक अभिप्रेत है। और मानव गुणों के उत्कर्ष का मूलाधार है मनोस्वास्थ्य जिसमें सामाजिक भोग और त्याग, अनुराग और विराग का पूर्ण सन्तुलन हो, जिसमें सामाजिक एवं लैंगिक द्विधा की चेतना न हो। और इस मनोस्वास्थ्य का साधन है आत्म संस्कार जिसके लिये प्रीति-मूलक सृजनात्मक भावनाओं का संवर्धन आवश्यक है—

रति और विरति के पुलिनों में बहती जीवन रस की धारा,
रति से रस लोगे और विरति से रस का मूल्य चुकाओगे।
नारी में फिर साकार हो रही नव्य चेतना जीवन की,
तुम त्याग भोग की सृजन भावना में फिर नवल डुबाओगे।

राजनीतिक उत्कर्ष:—भारत के मुक्ति दिवस १५ अगस्त का स्तवन करता हुआ कवि मुख्यतः उसके भौतिक उत्कर्ष की नहीं वरन् उसके आत्मिक ऐश्वर्य की मङ्गल कामना करता है :—

नव जीवन का वैभव जाग्रत हो जनगण में,
आत्मा का ऐश्वर्य अवतरित मानव मन में!
रक्त सिक्त धरणी का हो दुःस्वप्न समापन,
शान्ति प्रीति सुख का भू स्वर्ग उठे सुर-मोहन ॥

उनकी राष्ट्रीयता अथवा देश भक्ति संकुचित नहीं है, भारत मात्र का कल्याण उनका प्रेय नहीं है। वह भारत के हित को विश्व हित के साथ एक करके देखता है। भारत की दासता उसकी अपनी दासता नहीं थी, वह सारी पृथ्वी की नैतिक दासता थी। इसी तरह उसकी मुक्ति एक देश मात्र की मुक्ति नहीं है। वह विश्व-जीवन की मुक्ति है, क्योंकि उसे विश्वास है कि अपनी महान सांस्कृतिक परम्पराओं से समृद्ध भारत एक नवीन सांस्कृतिक आलोक का वितरण करेगा। इस प्रसङ्ग में मुझे अचानक ही प्रधान मन्त्री के अनेक वक्तव्यों का स्मरण हो आता है। उनमें प्रायः सभी में इस बात पर बल दिया जाता है कि भारत का कल्याण विश्व कल्याण के साथ ग्रथित है। वह संकुचित राष्ट्रीयता के मोह में पड़ कर विश्वादर्शों के लिये ही सतत् प्रयत्नवान रहेगा।

"मैंने भारत के हितों का ध्यान रखा है, क्योंकि स्वभावतः ही

यह मेरा प्रथम कर्त्तव्य था। मैंने सदैव भारत के हित को विश्व के हित का ही एक अङ्ग माना है। हमारे गुरु महात्मा गान्धी ने हमें यही शिक्षा दी है। उन्होंने हमें भारत के स्वातन्त्र्य और गौरव की रक्षा करते हुए दूसरों के साथ शान्ति और मित्र भाव से रहने का उपदेश दिया है। आज संसार में स्थान-स्थान पर सङ्घर्ष और द्वेष फैला हुआ है और सामने विनाश दिखाई दे रहा है इसलिये हमें ऐसे प्रत्येक कार्य का जिससे यह द्वन्द्व कम हो, स्वागत करना चाहिये।"

दोनों के आदर्शों में कितना निकट साम्य है, और यह केवल संयोग नहीं है। सदा से ही, साहित्य इस प्रकार, अपने एकान्त कक्ष से राजनीति को स्वप्न और आदर्श देता रहता है। इसीलिये तो कवियों को विश्व के जन्मना नियामक कहा गया है।

पुनरुत्थान भावना:—इस युग की काव्य-चेतना की एक प्रमुख प्रवृत्ति है पुनरुत्थान की भावना। हमारे प्रमुख कवियों में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक प्रखर थी प्रसाद में। पन्त को आरम्भ से ही अतीत की अपेक्षा भविष्य के प्रति अधिक आकर्षण रहा है। वे सदैव से भविष्य के स्वप्नद्रष्टा कवि रहे हैं। इन नवीन कविताओं में पहली बार सांस्कृतिक पुनरुत्थान की भावना मिलती है। कवि पहली बार अपनी प्राचीन आध्यात्मिक-पूत संस्कृति वेद, उपनिषद, सीता, लक्ष्मण आदि की ओर श्रद्धा और सम्भ्रम से आकृष्ट हुआ है। युगवाणी और ग्राम्या आदि में प्राचीन के प्रति एक वैज्ञानिक ऐतिहासिक अध्ययन का भाव था परन्तु इन कविताओं में आस्तिक प्रश्रय भाव भी मिलता है। 'स्वर्ण-धूलि' के आर्षवाणी कविता-संग्रह में वैदिक ऋचाओं का भव्य अनुवाद है। इन कविताओं द्वारा कवि आज के भूत-त्रस्त जीवन में शान्ति का सञ्चार करने के लिए मानों भारत की पूत पावनी संस्कृति की आत्मा का ही आवाहन करता है—

शांति शांति दे हमें शांति हो व्यापक उज्ज्वल,
शांति धाम यह धरा बने, हो चिर जन मंगल।

बहुत सी कविताओं में उपनिषद् मन्त्रों के प्रेरणा तन्तु विद्यमान हैं। कहीं उपनिषद् के द्वासुपर्णा आदि रूपकों को ग्रहण किया गया है और कहीं उसके आर्ष वचनों को उद्धृत किया गया है। 'स्वर्ण-किरण' में 'अशोकवन' नाम का एक स्वगत-काव्य वैदेही की मनो-

गाथा का आध्यात्म-परक विश्लेषण-चित्रण करता है—

नित सत् राम शक्ति चित् सीता,
अखिल सृष्टि आनन्द प्रणीता
प्रकृति शिखा सी उठे-शक्ति चित्
उतरे, निखिल जगत में शिक्षा।

इसी प्रकार भारत के समृद्ध साहित्य के शतरंगे कल्पना चित्र भी इन कविताओं में स्थान स्थान पर मणियों की भाँति टँके हुए हैं:—

सम्भव; पुरा तुम्हारी द्रोणी
किन्नर मिथुनों से हों कूजित,
छाया-निभृत गुहाएँ उन्मद
रति की सौरभ से समुच्छ्वसित।
*   *   *
अब भी ऊषा वहाँ दीखती
वधू उमा के मुख सी लज्जित
बढ़ती चन्द्रकला भी, गिरिजा सी
हो गिरि के क्रोड़ में उदित।

जैसा कि मैंने ऊपर कहा है, आधुनिक युग के विधायक कवियों में पन्त को पुरातन के प्रति सब से कम मोह रहा है। इसका कारण यह है कि उन पर पाश्चात्य शिक्षा सभ्यता का प्रभाव अपने अन्य सहयोगियों की अपेक्षा अधिक है। उनका रहन-सहन अब तक बहुत कुछ पश्चिमी ढङ्ग का रहा है। कालिदास और भवभूति की अपेक्षा उन्होंने शैली, कीट्स और टेनिसन से अधिक काव्य प्रेरणा प्राप्त की है और उपनिषद् और षड्दर्शन की अपेक्षा हीगेल और मार्क्स का उनकी विचार धारा पर अधिक प्रभाव पड़ा है। प्रसाद, निराला और महादेवी जब भारतीय दर्शन और साहित्य के द्वारा अपने व्यक्तित्व का संवर्धन-संस्कार करते थे, उस समय पन्त को हीगेल और मार्क्स का अध्ययन अधिक अनुकूल पड़ता था। 'स्वर्ण-धूलि' की एक कविता 'ग्रामीण' में पन्त ने अपने प्रति अभारतीयता के आक्षेप का उत्तर देने का प्रयत्न किया है :—

भारतीय ही नहीं बल्कि मैं
हूँ ग्रामीण हृदय के भीतर।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि इस युग के वयः प्राप्त कवियों के देखे, पन्त के व्यक्तित्व में भारतीयता का अंश अपेक्षाकृत सब से कम रहा है। परन्तु अब जीवन की प्रौढ़ि पर पहुँच कर वे सप्रश्रय भारतीय संस्कृति के अतीत गौरव की ओर आकृष्ट हुए हैं और यह शुभ लक्षण है। इससे उनके कला-वैभव में स्थैर्य्य आयेगा।

काव्य-गुण:—विचार सामग्री (thought Contents) का परीक्षण कर लेने के उपरान्त दूसरा और महत्तर प्रश्न है काव्य-गुण का। और काव्य के मूल्याङ्कन मे उसी का सर्वाधिक महत्व है। क्योंकि जहाँ तक उपयुक्त सैद्धान्तिक सामग्री का सम्बन्ध है, मेरी धारणा है, कि उसके लिए गद्य कदाचित अधिक सफल माध्यम होता, और दूसरे उसमें कोई विशेष मौलिकता भी नहीं है। उसका अध्ययन तो कवि के व्यक्तित्व-विकास के अध्ययन के लिए आवश्यक था और कवि मानस का साक्षात्कार करने के निमित्त ही हमने उसका विवेचन भी किया। पन्त की नवीन कविता का मूल्य आंकने के लिये उनका काव्य-गुण ही परखना होगा। अर्थात् यह देखना होगा कि उनमें चित्त को चमत्कृत करने की कितनी क्षमता है, और दूसरे शब्दों में इन कविताओं का मन पर कहाँ तक प्रभाव पड़ता है और इस प्रभाव का स्वरूप क्या है। उसमें सूक्ष्म परिष्कार है अथवा मन्थनकारी तीव्रता, या प्राणों को उद्वेलित करने वाली शक्ति, या फिर कल्पना को समृद्ध एवं विचार-चिन्तन करने की क्षमता। इस दृष्टि से विचार करने पर हमारे सामने सबसे पहले 'स्वर्ण धूलि' की मर्मकथा प्रणय कुञ्ज, शरद चाँदनी, मम व्यथा, स्वप्न बन्धन, स्वप्न देही, प्राणाकांक्षा, रस स्रवण आदि कविताएँ आती हैं। ये सभी कविताएँ शुद्ध गीति काव्य के सुन्दर उदाहरण हैं और रस व्यञ्जना की दृष्टि से इन संग्रहों की मधुरतम कृतियाँ हैं। इनमें आत्म रस से भीगी ऐन्द्रियता के कर्दम से मुक्त एक शान्त स्निग्धता मिलती है। ये कविताएँ परिष्कृत आत्मानुभूति की सहज उद्गीतियाँ हैं। सहजता का काव्य गुण जो गीति कविता का मूल तत्त्व है वास्तव में, इन्हीं कविताओं में मिलता है—शेष कविताओं में, (भिन्न प्रकार का महत्व होते हुए भी) चिन्तन, विचार और कल्पना की जकड़ बन्दी होने के कारण आत्म-द्रव के तारल्य का अभाव है। परन्तु इन कविताओं का सार-तत्त्व यह आत्म-द्रव ही है।

इस आत्म-द्रव का विश्लेषण एक स्थान पर कवि ने स्वयं किया है:—

यह विदेह प्राणों का बन्धन,
अन्तर्ज्वाला में तपता मन।
मुग्ध हृदय सौन्दर्य ज्योति को,
दग्ध कामना करता अर्पण।

अर्थात् इस आत्म-द्रव के उपादान तत्त्व हैं सौन्दर्य, मोह, देह की वासना से मुक्त एक हलकी-सी दग्ध-काम प्रीति, और इन दोनों के ऊपर सूक्ष्म जाली की तरह पुरी हुई कोमल अन्तर्व्यथा।

कुछ उदाहरण लीजिए :—

१—प्राणों में चिर व्यथा बाँध दी!
क्यों चिर-दग्ध हृदय को तुमने
वृथा प्रणय की अमर साध दी।
पर्वत को जल दारु को अनल,
वारिद को विद्युत चञ्चल
फूल को सुरभि, सुरभि को विकल
उड़ने की इच्छा अपार दी॥

२—बाँध लिया तुमने प्राणों को फूलों के बन्धन में।
एक मधुर जीवित आभा सी लिपट गई तुम मन में।
बाँध लिया तुमने मुझको स्वप्नों के आलिंगन में।

कुछ प्रकृति-कविताएँ भी इस प्रकार के आत्म-स्पर्शों से गुदगुदा उठी हैं :—

मानदण्ड भू के अखण्ड हे,
पुण्य धरा के स्वर्गारोहण,
प्रिय हिमाद्रि तुमको हिम कण से,
घेरे मेरे जीवन के क्षण।
मुझ अञ्चल-बासी को तुमने
शैशव में आशा दी पावन,
नभ में नयनों को खो तब से
स्वप्नों का अभिलाषी जीवन।

इनके अतिरिक्त अन्य कविताओं में हार्दिक-तत्त्व की न्यूनता है, परन्तु फिर भी कुछ कविताओं का महत्त्व असन्दिग्ध है। यह

महत्त्व गम्भीर चिन्तन, प्रौढ़ विचार और ऐश्वर्यमयी कल्पना पर आश्रित है। इस प्रकार की कविताओं में सर्वश्रेष्ठ है, 'स्वर्णोदय' जो इन नवीन संग्रहों की सबसे महान् रचना है, और पन्त की गुरुतम कृतियों में से है। इसमें मानव की जीवन यात्रा, जन्म, शैशव, यौवन, प्रौढ़ि, वार्धक्य और देहात का गम्भीर मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक एवं काव्यमय विवेचन है। परिस्थितियों की अनेक-रूपता के कारण इसका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और कवि ने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं का समर्थ चित्रण कर अपनी परिपक्व प्रतिभा का परिचय दिया है। वास्तव में इस कविता में एक प्रकार की महाकाव्य-गरिमा है। इसके अतिरिक्त हिमाद्रि, हिमाद्रि और समुद्र, इन्द्र-धनुष, द्वासुपर्णा, अशोक-वन और उधर सामञ्जस्य, चौथी भूख आदि कविताएँ महत्वपूर्ण हैं।

प्रभाव का स्वरूप और प्रेरणा:—दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि कविताओं के प्रभाव का स्वरूप क्या है? और प्रभाव विश्लेषण के लिए हमें उनकी मूल प्रेरणा का अनुसन्धान करना होगा। अस्तु! स्पष्टतः ही ये कविताएँ रसवादी नहीं हैं। अर्थात् ये हमारे हृदय में वासना रूप से स्थित प्रेम, उत्साह शोक, विस्मय, भय आदि स्थायी अथवा उनके सहकारी भावों को प्रत्यक्ष रूप से आन्दोलित करती हुई हमारे चित्त में तीव्र संवेदनमय आनन्द की सृष्टि नहीं करती। उधर उनका प्रभाव एकान्त बौद्धिक भी नहीं है जैसा कि प्राचीन अलङ्कारिक काव्य का, जो गणनात्मक कल्पना को उत्तेजित करता है, अथवा विदेश की नवीन बुद्धिवादी कविता का, जो विचार को झकझोरती है। इसके साथ ही प्राचीन दार्शनिक कविताओं का प्रभाव भी इनसे भिन्न होता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है इन कविताओं के उपादान तत्त्व तीन हैं। लोक कल्याणमय दार्शनिक चिन्तन, उज्ज्वल रङ्गीन कल्पना और मधुर सौन्दर्य-भावना, अतएव इनका प्रभाव भी तदनुकूल होगा। इनमें से पहले तत्त्व का प्रभाव एक प्रकार की बौद्धिक शान्ति, दूसरे का विस्मय और तीसरे का एक प्रकार की स्निग्ध माधुरी होता है और ये तीनों मिल कर एक मधुर बौद्धिक शान्ति को जन्म देते हैं। मैंने यहाँ बौद्धिक शान्ति शब्द का प्रयोग जानबूझ कर इस आशय से किया है कि यह शान्ति आध्यात्मिक शान्ति से भिन्न है। आध्यात्मिक शान्ति का अर्थ है शुद्ध आत्मानुभूति की स्थिति। और इन कविताओं

के आस्वादन में बौद्धिक चेतना का सर्वथा लोप नहीं होता। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि बौद्धिक शान्ति से क्या अभिप्राय है? बौद्धिक शान्ति से मेरा अभिप्राय उस शान्ति से है जो बौद्धिक विश्वासों द्वारा प्राप्त होती है—दूसरे शब्दों में यह कहिये कि आध्यात्मिक विश्वासों को बुद्धि द्वारा ग्रहण कर लेने से प्राप्त होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह शान्ति वास्तविक एवं पूर्ण शान्ति नहीं है आंशिक और एक प्रकार का शान्त्याभास है। परन्तु यह इन कविताओं का दोष नहीं है यह तो आज के बुद्धि-प्राण मानव जीवन की सबसे बड़ी दुर्घटना है। वह इससे आगे बढ़ने में असमर्थ है क्योंकि वह बुद्धि को वश में नहीं कर सकता और जब तक बुद्धि की विजय रहेगी सच्ची आध्यात्मिक शान्ति की अनुभूति सम्भव नहीं है। और फिर पन्त जैसे व्यक्ति के लिए तो यह और भी दुर्लभ है क्योंकि पन्त के व्यक्तित्व का दुर्बलतम अङ्ग है उनकी अनुभूति। पन्त ने जीवन का भोग कम किया है और अवलोकन अधिक। यहाँ मुझे गुञ्जन की वे पंक्तियाँ फिर याद आ जाती हैं :—

सुनता हूँ इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती-वाली,
पर मुझे डूबने का भय है,
भाती तट की चल जल-माली।

यह पन्त की कदाचित अचेतन स्वीकारोक्ति है।

निस्तल जल गहन गम्भीर विश्व जीवन है, मोती वाली मछली है जीवन का सत्य। जीवन के सत्य को पाने के लिए जीवन में डूबना अनिवार्य्य है। परन्तु पन्तजी यह नहीं कर पाये। वे तो तट पर बैठे हुए वीचिमाला अर्थात् जीवन और जगत के मनोरमों का अवलोकन करते रहे हैं। आरम्भ में उनके दृष्टिकोण में विस्मय और मोह था जो मन को गुदगुदाता और कल्पना को उत्तेजित करता था, अब उसमें चिन्तन और विचार का मिश्रण हो गया है। परन्तु उस जीवन सत्य को प्राप्त करने के लिए तो प्रबल अनुभूति सम्पूर्ण राग द्वेषमय जीवन (Passionate living) अपेक्षित है। किन्तु पन्तजी के व्यक्तित्व का यह अङ्ग सदा दुर्बल रहा है, इसीलिए उनके काव्य में प्राण-रस की क्षीणता है जिसकी उन्होंने समृद्ध कल्पना गम्भीर विचार और सूक्ष्म

चिन्तन द्वारा बहुत कुछ क्षतिपूर्ति करने का प्रयत्न किया है। परन्तु क्या प्राण-रस की क्षति-पूर्ति सम्भव है ?

कला:—कला का प्रयोग यहाँ मैं काव्य शिल्प के अर्थ में कर रहा हूँ। शिल्प बहुत कुछ साधना की वस्तु है। उसके लिए परिष्कृत रुचि के अतिरिक्त कल्पना की समृद्धि और प्रयत्न-साधन अपेक्षित होता है। पन्त में ये तीनों गुण प्रभूत मात्रा में हैं, अतएव उनकी कला सदैव विकासशील रही है और 'स्वर्णकिरण' में वह अपनी चरम प्रौढ़ि पर पहुँच गई है। यह प्रौढ़ि तीन दिशाओं में लक्षित होती है। काव्य सामग्री की समृद्धि, परिष्कार और विस्तार, प्रयोग-कौशल की सूक्ष्मता और अभिव्यक्ति कीपरिपक्वता। 'स्वर्णकिरण' में पन्त ने अत्यन्त समृद्ध काव्य सामग्री का प्रयोग किया है। अनेक कविताओं का कलेवर रूप-रङ्ग के ऐश्वर्य से जगमगा रहा है।

कलरव, स्वप्नातप, सुरधनु पट,
शशि मुख, हिमस्मिति, गात्र ले श्वसित
षड्ऋतु देती थी परिक्रमा,
अप्सरियों सी सुरपति प्रेषित !
शरद चन्द्रिका हो जाती थी
स्वप्नों के शृङ्गों पर विजडित
हिम की परियों का अञ्चल उड़
जग को कर लेता था परिवृत !

चूम विकच नलिनी-उर गूँजे गीत पङ्ख मधुकर दल,
नृत्य तरङ्गित बहे स्रोत, ज्यों मुखरित भू-पग पायल।
विहँसे हिम-कण किरण-गर्भ, स्वर्गिक जीवन के से क्षण,
खोल तृणों के पुलक पङ्ख उड़ने को भू रज के कण।

उपर्युक्त छन्दों में चन्द्रमा और चाँदनी की अपार चाँदी, किरणों और आतप का राशि-राशि सोना और प्रकाश, सुरधनु के मणि माणिक हिमानी का रेशम, स्वप्नों की पलपल परिवर्तित छाया-प्रकाश की आँख-मिचौनी गीत, नृत्य पायल का प्रभूत ऐश्वर्य बिखरा हुआ है। पन्त का प्राकृतिक वैभव पर तो पूर्ण अधिकार रहा ही है, प्रकृति के रम्य रूप आकाश, चन्द्र, सूर्य तारागण, आतप, चाँदनी, इन्द्रधनुष, असंख्य फूल-पत्ती, वृक्ष और लताएँ, पर्वत, नदी, निर्झर

और सागर, सोना चाँदी मणि-माणिक्य सभी अपने रूप रङ्गों का वैभव लिए कवि कल्पना के संकेतों के साथ नाचते हैं।

'स्वर्ण-किरण' में यह क्षेत्र और भी विस्तृत हो गया है, और रूप रङ्ग के रोमानी उपकरणों के अतिरिक्त यहाँ आध्यात्मिक जीवन के मांगलिक उपकरणों—उदाहरण के लिए मन्दिर, कलश, दीपशिखा, यज्ञ-धर्म, हवि, नीरांजन, रजतघण्टियाँ, अभिषेक, कर्पूर, चन्दन, गङ्गाजल, अमृत आदि—का भी यथेष्ट प्रयोग है।

चन्द्रताप-सी स्निग्ध नीलिमा
यज्ञ धूम सी छाई ऊपर
दीपशिखा सी जगे चेतना
मिट्टी के दीपक से उठ कर!
आज समस्त विश्व मन्दिर-सा
लगता एक अखण्ड चिरन्तन।
सुख दुख जन्म-मरण नीराजन
करते, कहीं नहीं परिवर्तन!

वर्ण-धूलि की कुछ कविताओं में नित्य प्रति के भौतिक जीवन प्रतिनिधि रचनाएँ नहीं हैं। ग्राम्या और युगवाणी की नैतिक जीवन की स्थूल सामग्री की ओर से विमुख होकर कवि फिर अपने चिर-परिचित रोमानी क्षेत्र में लौट आया है जिस पर अब उसका अधिकार और भी व्यापक हो गया है। छायावादी कवियों में सबसे सीमित क्षेत्र सुश्री महादेवी वर्मा का है—उन्होंने एक ओर तो प्रकृति के बस थोड़े से सांध्य-कालीन उपकरणों को ग्रहण किया है, और दूसरी ओर पूजा की सामग्री को। अतएव उनके प्रतीकों और चित्रों में प्रायः पुनरावृत्ति मिलती है। पन्त का क्षेत्र अपेक्षाकृत कहीं अधिक विस्तृत है। यह सत्य है कि उन्होंने भी केवल मनोरम रूपों को ही ग्रहण किया है, प्रसाद और निराला की भाँति विराट और अनगढ़ रूपों को नहीं, परन्तु उन्होंने इस क्षति की पूर्ति अपनी सामग्री के सूक्ष्म नियोजन द्वारा करली है। वास्तव में चयन और नियोजन की इतनी सूक्ष्मता, रूप और रङ्ग का इतना बारीक मिश्रण अन्यत्र नहीं मिलता:—

स्वर्ण-रजत के पत्रों की रत्नच्छाया में। सुन्दर
रजत-घण्टियों सा सुवर्ण-किरणों का झरता निर्झर !
सिहर इन्द्र धनुषी लहरों में इन्द्र-नीलिमा का सर
गलित मोतियों के पीतोज्वल फेनों से जाता भर !—स्वर्ण निर्झर
शशि किरणों के नभ के नीचे, उर के सुख से चञ्चल,
तुहिनों का छाया वन नित, कँपता रहता तारोज्ज्वल।

उपयुक्त पंक्तियों में आप देखिए कि सौन्दर्य के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं के प्रति पन्त का ऐन्द्रिय संवेदन कितना सचेत और तीव्र है।

इन रचनाओं में कवि की अभिव्यक्ति भी स्वभावतः अत्यन्त परिपक्व और प्रौढ़ होगई है। उनकी भाषा में सौन्दर्य के सूक्ष्म-तरल संवेदनों को अभिव्यक्त करने की शक्ति आरम्भ से ही रही है। ज्योत्स्ना और युगान्त में आकर उसमें गम्भीर सामाजिक, दार्शनिक तत्वों को व्यक्त करने की क्षमता भी आ गई थी। युगवाणी और ग्राम्या में अभिव्यक्ति में जन-साधारण के नैतिक जीवन की सरलता और ऋजुता लाने का प्रयत्न किया गया है जो स्वर्ण-धूलि की अनेक सामाजिक कविताओं में चलता रहा।

'फूटा करम ! धरम भी लूटा !'
शीश हिला, रोते सब परिजन
'हा अभागिनी ! हा कलंकिनी !'
खिसक रहे गा-गा कर पुरजन ! —पतिता

अथवा

सूट बूट में सजे धजे तुम
डाल गये फाँसी का फन्दा,
तुम्हें कहे जो भारतीय, वह
है दो आँखोंवाला अन्धा। —ग्रामीण

परन्तु 'स्वर्ण-किरण' की कविताओं में इधर 'स्वर्ण-धूलि' के वैदिक ऋचाओं के अनुवादों में कवि ने गहन आध्यात्मिक तथ्यों को व्यक्त करने की एक नवीन शक्ति का उपार्जन किया है। इस नवीन शक्ति का रहस्य है प्रसङ्गानुकूल आर्य शब्दावली का प्रयोग—

ब्रह्मज्ञान रे विद्या, भूतों का एकत्व समन्वय
भौतिक ज्ञान अविद्या, बहुमुख एक सत्य का परिचय।

आज जगत में उभय रूप तम में गिरने वाले जन
ज्योति केतु ऋषि दृष्टि कर उन दोनों का सञ्चालन।

—इन्द्र धनुष

× × × ×

श्रवण गगन में गूँज रहे स्वर
ॐ क्रतो स्मर कृतं क्रतो स्मर।
सृजन हुताशन को हवि भास्वर
बनी पुनः जीवन रज नश्वर!!